ISSN : 2231-0509
वर्ष 21 / अंक 1 / जनवरी–फरवरी, 2019

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

वर्ष 21/अंक 1/जनवरी-फरवरी, 2019

प्रधान संपादक रोहित धनकर

संपादक प्रमोद

प्रबंधक रीना दास

कला पक्ष रामकिशन अडिग

कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क

शिक्षा विमर्श

दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,

जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान

फोन : (0141) 2750310

मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)

ई मेल: shikshavimarsh@digantar.org

वेबसाइट: www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	**300**	**450**
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए प्रतिवर्ष 100 रुपये अतिरिक्त भिजवाएं)

ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय

शिक्षा नीति-2019 का मसौदा
अस्पष्टता और अन्तर्विरोधों से भरी कदमताल 3
❑ प्रमोद

व्याख्यान

राष्ट्रवाद और भारतीय शिक्षा से भगतसिंह का मतलब 7
❑ अमन मदान

लेख

क्या शिक्षा शांति में सहायक हो सकती है ?
भाग-I 17
❑ कृष्ण कुमार

गणित का शिक्षणशास्त्र

गणित शिक्षण भाग-II
दस का दम (गिनने में) 22
❑ रविकांत

अध्ययन

रानीतिक समाजीकरण और बच्चे
(आम चुनाव 2019 के विशेष संदर्भ में) 27
❑ ऋषभ कुमार मिश्र

लेख

ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में 'जगह' की निर्मिति
कुछ प्रस्थान बिन्दु 33
❑ शचीन्द्र आर्य

अनुभव

लेसन प्लान : कितने सार्थक ? 41
❑ कालू राम शर्मा

पुस्तक समीक्षा

पढ़ना, जरा सोचना 45
❑ चन्दन यादव

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास
द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित
एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

शिक्षा नीति-2019 का मसौदा

अस्पष्टता और अन्तर्विरोधों से भरी कदम ताल

किसी नीतिगत दस्तावेज को कैसा होना चाहिए? इस सवाल का जवाब खोजने पर जो न्यूनतम से न्यूनतम जवाब हम पाते हैं वह है कि उसकी भाषा को सुस्पष्ट होना चाहिए उससे अलग-अलग अर्थ निकालने की संभावनाएं जितना संभव हो न्यूनतम होनी चाहिए। दूसरे उसके भीतर मौजूद विचार में अन्तर्विरोध नहीं होना चाहिए। तीसरे उसे कदमताल करते हुए स्थिर बने रहने की बजाए नीतिगत स्तर पर पहले बढ़ाए जा चुके कदमों से आगे बढ़ना चाहिए। चौथे एक लोतांत्रिक समाज में उसे लोकतांत्रिक व प्रगतिगामी मूल्यों को पोषित करने वाला होना चाहिए। मगर हम यह सवाल क्यों पूछ रहे हैं? हम यह सवाल इसलिए पूछ रहे हैं क्योंकि हाल ही में शिक्षा नीति-2019 के मसौदे को सार्वजनिक कर दिया गया है। और यह एक नीतिगत दस्तावेज है जो आज एक मसौदा है तो कल कुछ फेर-बदल के साथ नीति में रूपांतरित होने वाला है और यह नीति हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था की दिशा तय करने वाली होगी। तो सवाल उठना लाजमी है कि क्या यह मसौदा उक्त शर्तों को पूरी करता है? थोड़ी सी उहापोह के साथ आप इस नतीजे पर पहुंच जाते हैं- नहीं, मोटे तौर पर यह मसौदा चौथी शर्त को कुछ हद तक पूरी करने के अलावा पहली तीनों शर्तों को पूरी नहीं करता।

मगर हम उक्त बातों की छानबीन करने से पहले यह देखने की कोशिश करते हैं कि इस दस्तावेज में सकारात्मक क्या-क्या है?

- यह मसौदा मानव संसाधन विकास मंत्रालय का नाम बदल कर इसका नाम शिक्षा मंत्रालय करने की सिफारिश करते हुए सबसे साहसिक बात करता है।

- दूसरा महत्वपूर्ण बिन्दु जिसे हम कह सकते हैं वह है इस मसौदे में शिक्षा के अधिकार अधिनियम 2009 यानी आरटीई का दायरा बढ़ाने की बात की गई है। यह मसौदा 3 से 18 वर्ष तक के आयुवर्ग के बच्चों को शिक्षा का अधिकार देने की बात करता है। वर्तमान में इस अधिनियम में मौजूद आरंभिक शिक्षा (जिसमें प्राथमिक से उच्च प्राथमिक तक की शिक्षा आती है) का दायरा बढ़ा कर इसमें पूर्व प्राथमिक से लेकर उच्च माध्यमिक तक की कक्षाओं को शामिल करने की बात करता है। इस तरह पूर्व प्राथमिक शिक्षा के तीन वर्ष (3 से 6 वर्ष आयुवर्ग) व उच्च माध्यमिक तक के चार वर्ष (14 से 18 वर्ष आयुवर्ग) शामिल करने की अनुशंसा करता है।

- शिक्षा में 'पैरा टीचर' की व्यवस्था को पूरी तरह खत्म करने की मंशा रखता है।

- शिक्षक बनने के लिए चार वर्ष के पूर्णकालिक डिग्री कोर्स की अनुशंसा करता है और उसे अलग से शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों में संचालित करने की बजाय नियमित डिग्री कॉलेजों में ही संचालित करने की बात कहता है। साथ ही गुणवत्ताहीन बीड कॉलेजों को बन्द करने की बात करता है।

- पुस्तकालयों को जीवंत बनाने व गतिविधियों को कराने पर ध्यान देने की बात बात करता है। इसमें कहानी सुनाने, रंगमंच, समूह में पठन, लेखन व बच्चों के बनाये चित्रों व लिखी हुई सामग्री का डिसप्ले

करने पर ध्यान देने की बात कही गई है। स्कूल के साथ-साथ सार्वजनिक पुस्तकालयों को विस्तार देने व पढ़ने और संवाद करने की संस्कृति को प्रोत्साहित करने की बात भी कही गई है।

- यह शिक्षा व्यवस्था की दुर्दशा को बिना लाग-लपेट स्वीकार करता है। शिक्षा की सेहत में सुधार लाने के लिए शिक्षा पर खर्च को कुल सार्वजनिक व्यय के वर्तमान 10 प्रतिशत से सन् 2025 तक 20 प्रतिशत तक बढ़ाने की बात करता है।

- निजी स्कूलों के नाम के पहले 'पब्लिक' शब्द हटाने की सिफारिश करता है और कहता है कि इस शब्द का इस्तेमाल करने का हक सिर्फ उन स्कूलों को है जो सरकारी हैं या सरकारी अनुदान से संचालित हैं।

- यह 'एक्ट्राकरीकुलर' जैसे शब्द के चलन को शिक्षा में खत्म करने की बात करता है और कला, संगीत, रंगमंच, दस्तकारी, खेल आदि को शिक्षा की मुख्य पाठ्यचर्या का हिस्सा मानता है। इससे आगे बढ़ कर कला की भूमिका को व्यक्ति में उदार मूल्यों को पनपाने में महत्वपूर्ण मानता है।

- प्राथमिक शिक्षा स्थानीय भाषा या मातृभाषा में हो और संभव हो तो उच्च प्राथमिक शिक्षा भी स्थानीय भाषा में हो। विज्ञान की पढ़ाई स्थानीय व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में हो। यह अनुशंसा करता

- भाषाई मुद्दे पर त्रिभाषा फार्मूला अपनाने की अनुशंसा करता है। यानी स्थानीय भाषा और अंग्रेजी के साथ-साथ बच्चे एक और भाषा सीखें।

अब हम लौट कर अपनी बात पर आ सकते हैं कि हम किन आधारों पर इस दस्तावेज की आलोचना कर रहे हैं।

484 पन्नों (हिन्दी रूपान्तरण में 650 पन्ने) का यह दस्तावेज भाषाई स्तर पर बहुत सधा हुआ नहीं है। अपनी भाषा में यह कभी शिक्षा की वर्तमान दुर्दशा पर चिन्ता व्यक्त कर रहा होता है, शिक्षा संस्थानों, शिक्षा व्यवस्था में मौजूद खामियों व ज्ञान के क्षेत्र में शिक्षित युवाओं के पिछड़ जाने पर चिन्ता जाहिर कर रहा होता है तो अगले ही पल यह भारतीय ज्ञान की भूरी-भूरी प्रशंसा (नहीं मालूम प्रशंसा भूरी क्यों होती है, हरी, लाल या नीली क्यों नहीं) करने लगता है। इसकी भाषा में वैज्ञानिक नज़रिए का विकास करने, लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास करने, भाईचारे, शांति जैसे मूल्यों को जीवन में आत्मसात करने का आग्रह दिखता है और इन मूल्यों को पंचतंत्र, जातक कथाओं आदि के जरिए सिखाने की उम्मीद पाल लेता है जबकि मूल्यों के बारे में आधुनिक समझ यह बताती है कि उन्हें जीवन में अपनाना सीखना होता है। और यह तब तक संभव नहीं है जब तक कि उन मूल्यों को अपने आस-पास के जीवन में महत्व पाते या जीये जाते हम नहीं देखते। सिर्फ कथा-कहानियों के आधार पर मूल्यों को परीक्षा देने के लिए सीखा जा सकता है जीवन में नहीं उतारा जा सकता एवं मूल्यों का इस तरह सीखा जाना एक विभाजित मानिसिकता ही पैदा करता है जिसमें वे सिर्फ किताबी ज्ञान की संज्ञा पाते हैं और जीवन की व्यावहारिकता उनके बल नहीं चलाई जा सकती इस बात को ही बल मिलता है। इससे बेहतर होता कि उक्त कथाओं को हमारे समृद्ध मौखिक साहित्य के तौर पर देखा जाता और उससे बच्चों की कहानी की भूख शांत करने की बात की जाती। कहानी बचपन की महत्वपूर्ण जरूरत (यों तो साहित्य जीवन की महत्वपूर्ण जरूरत होता है) होती है।

यह दस्तावेज अपने विचारों में अन्तर्विरोधों से भरा है। एक ओर यह बच्चों पर परीक्षा के दबाव को लेकर बेहद चिंतित नज़र आता है मगर उसके उपाय के तौर पर परीक्षा के अधिक मौके देने की बात करता है। इससे भी आगे बढ़ कर यह कक्षा 3, 5 व 8 के स्तर पर राज्य व राष्ट्रीय स्तर पर परीक्षा आयोजित करने की बात करता है। इस परीक्षा में एक से अधिक मौके देने की बात कर यह खुद को उदार साबित करने की कोशिश करता है मगर परीक्षा का यह

केन्द्रीयकृत रूप इसकी उदारता पर पानी फेर देता है। हम सभी जानते हैं कि परीक्षा जितनी केन्द्रीयकृत तरीके से होगी वह अपने आपको उतना अधिक वस्तुनिष्ठ व छात्रों से दूरी बना कर चलेगी (बोर्ड परीक्षाएं इसका उदाहरण हैं)। ऐसे में आकलन बच्चे के सीखने-समझने में मददगार होने की भूमिका से कोसों दूर चला जाता है।

यह शिक्षा में पाठ्यचर्या निर्माण व पाठ्यपुस्तक निर्माण के विकेन्द्रीकरण की बात करता है और बच्चे की मातृभाषा में उसे प्राथमिक शिक्षा जरूरी तौर पर मिले तथा संभव हो तो उच्च प्राथमिक स्तर पर भी मिले ऐसी मीठी उम्मीद जगाता है। यह स्थानीय भाषाओं में पाठ्यपुस्तकें निर्माण करने तक की सिफारिश करता है मगर अगले ही पल प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीयकृत शिक्षा आयोग की सिफारिश करता है जिसमें 50 प्रतिशत मंत्री हों व 50 प्रतिशत अकादमिक क्षेत्र के लोग। सारी शिक्षा व्यवस्था इसी आयोग के अंतर्गत आए ऐसी सिफारिश करता है। हम समझ सकते हैं इस ताकतवर शिक्षा आयोग के सामने कोमल विकेन्द्रीकृत व्यवस्था कितनी टिक पाएगी।

यह दस्तावेज 'पैरा टीचर' की व्यवस्था समाप्त किए जाने की अनुशंसा करता है और अगले ही पल 'रेमेडियल टीचिंग' के लिए स्थानीय 'ट्यूटर' खोजे जाने की अनुशंसा कर देता है। यह यहीं नहीं रुकता बल्कि 'रेमेडियल टीचिंग' का संस्थानीकरण अगले दस सालों तक के लिए कर देना चाहता है। यह बात सीखने में मददगार सतत आकलन की भावना का सत्यानाश कर देती है। सतत आकलन की धारणा में निहित है कि बच्चे अपनी गति से सीखते हुए आगे बढ़ें। उन्हें सीखने में कहां और किस तरह की मदद की जरूरत है इसका पता लगाया जाए और उन्हें वह मदद उपलब्ध करवाई जाए। इस धारणा में पिछड़ गए बच्चे की चुनौतियों को समझने की बात है जबकि रैमेडियल टीचिंग में नहीं सीख पाने का सारा दोषारोपण बच्चे के मथ्थे है और यह समझ निहित है कि उसे सीखने के मामले में एक तरह से बीमार समझ कर उपचार की जरूरत आन पड़ी है। यह पहली पीढ़ी के तथा वर्ग, जाति व लिंग के आधार पर वंचित बच्चों के प्रति अन्याय है। बेहतर होता कि यह देस्तावेज राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 व शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 में निहित सतत व समग्र मूल्यांकन की बात को आगे ले जाता, उसमें मौजूद कक्षा की धारणा की वजह से पैदा हुई विसंगति को दूर करने की बात करता। मगर अफसोस कि यह अपना मौका गंवा देता है। सतत व समग्र मूल्यांकन की धारणा में निहित सीखने की गति की स्वतंत्रता और कक्षा की समयबद्ध धारणा के बीच जो अंन्तर्विरोध है उसे दूर करने का अवसर गंवा दिया गया है। बेहतर होता प्राथमिक व उच्च प्राथमिक कक्षा की कक्षा वार समयबद्ध धारणा को अवधि में तब्दील किया जाता। जहां कक्षा की जकड़न से दूर एक अवधि में (यह अवधि प्राथमिक के लिए साढ़े चार से साढ़े पांच वर्ष व उच्च प्राथमिक तक के लिए साढ़े सात से साढ़े आठ वर्ष हो सकती है और किन्हीं अपवादों में कुछ और ज्यादा या कम हो सकती है) बच्चों को अपनी गति से प्राथमिक व उच्च प्राथमिक स्तर पूरा करने की छूट होती।

यह दस्तावेज शिक्षा में मौजूद श्रेणीकरण को बढ़ावा देता है और उसे मान्यता देता है। यह कस्तूरबा गांधी विद्यालयों के 12वीं तक हो जाने की बात करता है। हम सब जानते हैं कस्तूरबा गांधी विद्यालय एक तात्कालिक जरूरत से पैदा हुआ ढांचा है उसे मुख्य शिक्षा में संस्थागत रूप में मान्यता देना अपने आप में श्रेणीकरण या विभेद को स्थापित करना है। यह यहीं नहीं रुकता उससे आगे बढ़ कर निजी स्कूलों को अपनी फीस तय करने की छूट देता है हालांकि यह कहता है कि वह फीस मनमानी नहीं हो सकती मगर फिर भी फीस तय करने की छूट देता है। यह शिक्षा में निजीकरण को स्वीकार करता है और अनकहे उसमें मौजूद विभेद (केन्द्रीय विद्यालय, नवोदय विद्यालय, कस्तूरबा गांधी विद्यालय, राज्य के सरकारी विद्यालय, मंहगे निजी स्कूल, सस्ते निजी स्कूल इत्यादि) को स्थापित व मजबूत करने का काम करता है। इस तरह 'कॉमन स्कूल' सिस्टम में मौजूद पड़ौस के स्कूल की धारणा को स्थापित करने का मौका गंवा देता है। इसका नतीजा हम आने वाले वर्षों में शिक्षा में निजीकरण और बढ़ने के रूप में देखेंगे।

यह दस्तावेज यशपाल समिति, शिक्षा नीति 1968, 1986/1992 (संशोधित), राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 का जिक्र फौरी तौर पर करता है। यही वजह है कि यह अपनी जगह कदमताल करते हुए कभी-कभी एक कदम पीछे रख देने को विवश होता है। अगर उक्त दस्तावेजों व शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009 में उठाए गए कदमों को गंभीरता से लिया जाता तो यह निश्चित उस दिशा में आगे बढ़ने की कोशिश करता। इसे गौर से पढ़ें तो यह उदारता की शब्दावली का उपयोग निजीकरण के रास्ते खोलने के लिए करता है न कि लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षरण के लिए। कुछ जगह यह अपनी भाषा का इस्तेमाल स्वच्छ भारत अभियान के प्रचारक के तौर पर करता है। स्वच्छता अपने आप में एक मूल्य हो सकता है किन्तु उसे डस्टबिन के इस्तेमाल सीखने व शौचालय का उपयोग करने तक सीमित कर देने से उस मूल्य का अपने आप में क्षरण हो जाता है।

उच्च शिक्षा में तीन प्रकार के सस्थान बनाने की बात करता है। पहला ऐसे विश्वविद्यालय जो शोध पर केन्द्रित होंगे मगर वहां शिक्षण भी होगा, दूसरे ऐसे विश्वविद्यालय जो शिक्षण केन्द्रित होंगे मगर वहां शोध भी होगा, तीसरे ऐसे कॉलेज जो केवल शिक्षण केन्द्रित होंगे। इसके साथ ही विदेशी विश्वविद्यालयों को भारत में आने का रास्ता साफ करता है। यह उच्च शिक्षा में निजीकरण के दूसरे दौर की शुरुआत है। जो हश्र हम स्कूली शिक्षा का देख चुके हैं अब हमें उच्च शिक्षा का देखने के लिए तैयार रहना चाहिए।

इस दस्तावेज को लगता है कि अंतरिक्ष, खगोल, चिकित्सा, आदि संबंधी सारा ज्ञान संस्कृत में पहले से मौजूद है। तथा फिर से नालंदा व तक्षशिला स्थापित किए जाने की जरूरत है। यह इसका अतीत मोह है जिससे यह उबर नहीं पाता और यही इसके लिए सबसे बड़ा अन्तर्विरोध रचता है। यह लौट-लौट कर अतीत की ओर देखता है उसी में अपना प्रश्रय ढूंढ़ता है।

यह 2025 तक शिक्षा पर खर्च बढ़ाने की बात करते हुए इसे सार्वजनिक व्यय के 10 प्रतिशत से 20 प्रतिशत तक ले जाने की बात करता है मगर उसकी जिम्मेदारी केवल सरकार पर न डाल कर निजीभागीदारी का अंश भी उसमें शामिल करने की बात करता है।

पहली नजर में पढ़ने पर इस दस्तावेज की उदारता की शब्दावली में लिपटी भाषा से हम कुछ उम्मीद पाल लेते हैं मगर गौर से पढ़ने पर इसका मुखौटा उतर जाता है। यह दस्तावेज बाजार की उदार शब्दावली व प्रतिगामी सोच का मिलाजुला नमूना है। ◆

प्रमोद

राष्ट्रवाद और भारतीय शिक्षा से

भगत सिंह का मतलब

अमन मदान

अनुवादः रविकान्त

दोस्तो, हम यहां पर भारत की आजादी के एक बड़े लड़ाके भगत सिंह की याद में इकट्ठा हुए हैं। लेकिन भगत सिंह के बारे में कुछ बोलने से पहले मैं दूसरे दो बड़े व महान भारतीयों को याद करना चाहता हूं। उनमें से पहली भारतीय, सुधा भारद्वाज, आज भी हमारे बीच में मौजूद हैं। सुधा भारद्वाज ने आई.आई.टी. कानपुर से स्नातक किया और पिछले तीस बरसों से वे कामगारों व किसानों के हकों के लिए एक वकील के तौर पर लड़ रही हैं। पिछले साल सुधा भारद्वाज इसी भगत सिंह यादगार व्याख्यानमाला में वक्ता थीं। अपने व्याख्यान के कुछ ही महीनों बाद उन्हें दिल्ली में गिरफ्तार कर लिया गया। इस वक्त वे माओवादी आतंकवादी होने के आरोप में पूना की जेल में बंद हैं। इस देश के दूसरे व्यक्तियों की ही तरह, पिछले बरस उनका व्याख्यान सुनने के बाद, मेरे लिए भी उन पर लगाए गए आरोप पर यकीन करना काफी मुश्किल काम है। मैं उम्मीद करता हूं कि हमारी न्याय व्यवस्था सच्चाई से झूंठ को अलग कर पाएगी।

भगत सिंह के बारे में बात करने से पहले हमें एक दूसरे बड़े व महान भारतीय बी.आर.अंबेडकर को जरूर याद करना चाहिए। अंबेडकर निःसंदेह बीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से के महानतम बौद्धिकों में एक थे। उन्हें याद करना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि उन्होंने हमें नायक पूजा के खिलाफ चेताया था। भगत सिंह के बारे में बात करते वक्त हमें यह सावधानी जरूर बरतनी चाहिए। भगत सिंह खुद भी नायक पूजा के खिलाफ थे और गांधी, नेहरू, तिलक या उस वक्त के किसी भी दूसरे महान नेताओं की मूर्ति बना कर उन्हें पूजने से इंकार करते थे। अंबेडकर ने हमें बेहद ही खूबसूरत तरीके से नायक पूजा के खिलाफ चेताया थाः

> ''किसी के प्रति अटूट अनुराग के प्रदर्शन के तौर पर नायक-पूजा एक बात है। नायक का आज्ञापालन एक दूसरी किस्म का नायक-पूजन है। पहले में कुछ भी गलत नहीं है जबकि दूसरा बिना किसी शक के सबसे नुकसानदेह चीज है। ...पहला किसी की भी सोचने समझने की ताकत तथा कर्म करने की आजादी को नहीं छीनता है। दूसरा किसी को भी पक्के-मूर्ख में तब्दील कर देता है।'' - अंबेडकर, बी. आर. (1989)।

हम भगत सिंह को नायक पूजा की नजर से नहीं देखेंगे, बल्कि जैसा कि अंबेडकर कहते हैं, हम उन चीजों की तलाश में उन्हें देखेंगे, जो कि मानवता में महान हैं। उसमें जो हमें बेहतर लगेगा, हम उसकी तारीफ करेंगे और जो बेहतर नहीं लगेगा, उससे हम कई गज दूर ही रहेंगे।

भगत सिंह 1907 में पंजाब के लायलपुर जिले में पैदा हुए थे, जिसे अब पाकिस्तान में फैसलाबाद के नाम से जाना जाता है। हम सभी भगत सिंह की कहानी जानते हैं। भगत सिंह, राजगुरू और दूसरे कई कामरेडों ने मिल कर लाला लाजपत राय की हत्या का बदला लेने की योजना बनाई थी। 30 अक्टूबर, 1928 को पुलिस सुपरिटेंडेंट जॉक स्कॉट द्वारा दिए गए लाठी चार्ज के आदेश में लाला लाजपत राय को चोट पहुंची थी। इसके बाद लाला लाजपत राय 17 नवंबर, 1928 को दिल के दौरे से गुजर गए। भगत सिंह और दूसरे कई व्यक्तियों

का यह मानना था कि उनकी मौत लाठी चार्ज की वजह से ही हुई थी। उसके ठीक एक महीने बाद, भगत सिंह और शिवराम हरि राजगुरू ने एक ऐसे आदमी पर हमला किया, जिसके बारे में उनमें से ही एक साथी ने यह बताया था कि वही सुपरिटेंडेंट स्कॉट है। लेकिन वह गलत था और उसके बजाय उन्होंने 17 दिसंबर, 1928 को सहायक पुलिस सुपरिटेंडेंट जॉन पोयेन्ट्ज सांडर्स (22 वर्ष) को मार दिया। अपनी मौत के वक्त सांडर्स को भारत आए एक बरस से भी कम वक्त हुआ था। यह माना जाता है कि चंद्रशेखर आजाद ने सांडर्स के सिख मुंशी चानन सिंह को मारा था, जो कि उनका पीछा कर रहा था। हालांकि यह हत्या ब्रिटिशों के खिलाफ जनता में विरोध को जगाने के इरादे से की कई थी, लेकिन ऐसा लगता है कि उस वक्त इसमें कामयाबी नहीं मिली। नौजवान भारत सभा में लोगों की उपस्थिति असल में गिर गई थी। यह तो बहुत बाद में, जब भगत सिंह जेल में थे, तब वे देश और खास तौर पर उत्तर भारत के लोगों के दिलो-दिमाग पर छाने लगे।

भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने 8 अप्रैल, 1929 को दिल्ली की विधान सभा में दो छोटे-छोटे बम फेंके। यह जानबूझ कर जनता में लोकप्रिय भावनाएं भड़काने के लिए किया गया था ताकि औपनिवेशिक राज के खिलाफ जनता उठ खड़ी हो। इस योजना को बनाने वालों के बीच इस बात पर थोड़ी चर्चा चली थी कि इस काम के लिए किसको जाना चाहिए और इस बात की उन्हें आशंका थी कि पुलिस शायद भगत सिंह को सांडर्स व चानन सिंह की हत्या में शामिल व्यक्यिों में से एक व्यक्ति के तौर पर पहचान सकती है। लेकिन भगत सिंह उनमें से सबसे अच्छे वक्ता तथा मुखर थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अगर मुकदमे को ही सार्वजनिक लामबंदी की जगह बनाना है तो वे उसके लिए सबसे बेहतरीन व्यक्ति हैं।

उन्हें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों द्वारा 23 मार्च, 1931 को फांसी की सजा दे दी गई। प्रतिरोध के एक वक्तव्य और भारत के लोगों को जगाने के एक जरिए के तौर पर, उनकी मौत खुद उनके द्वारा ही रची गई थी। भारत के गवर्नर को लिखी अपनी आखिरी चिट्ठी में उन्होंने, राजगुरू और सुखदेव ने व्यंग्य और विडंबना भरे शब्दों में यह मांग रखी थी कि उन्हें फांसी पर न लटका कर गोली से उड़ाया जाए।

> ''जहां तक हमारे भाग्य का सवाल है, तो कृपया हमें यह कहने की अनुमति दें कि जब आपने हमें मौत के घाट उतारने का फैसला कर ही लिया है, तो आप इस पर निश्चित रूप से अमल करेंगे ही। आपके हाथों में ताकत है और इस दुनिया में जिसके पास ताकत होती है उसे ही सही माना जाता है। हम जानते हैं कि आप 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाले मुहावरे पर पूरा यकीन करते हैं। कोर्ट में चला हमारा पूरा केस इस का सबूत है।
>
> हम इस बात की तरफ आपका ध्यान दिलाना चाहते हैं कि आपके कोर्ट के मुताबिक हमने आपके खिलाफ युद्ध छेड़ा था और इसलिए हम युद्धबंदी हैं और हम यह चाहते हैं कि हमारे साथ उसी तरह से बरताव किया जाए, जैसे हम चाहते हैं कि हमें फांसी पर चढ़ाने के बजाय गोली से उड़ा दिया जाए। अब यह साबित करना आपके ऊपर है कि आपका मतलब भी वही था जो आपकी अदालत ने कहा था।
>
> हम आपसे अनुरोध करते हैं और उम्मीद करते हैं कि आप अपने सैन्य विभाग को यह आदेश देंगे कि वे अपनी एक टोली भेज कर हमें गोली से उड़ा दें।''
>
> आपके, भगत सिंह, राजगुरू, सुखदेव

भगत सिंह की शिक्षा

मैं उस पत्र की जीवटता से दंग रह गया। वे अगले एक दो माह में ही फांसी पर चढ़ने वाले थे, इसके बावजूद वे अंग्रेजों से पंगेबाजी करने से बाज नहीं आ रहे थे। आखिर ऐसा क्या हुआ था, जिसने ऐसे इंसान को गढ़ा?

भगत सिंह राजनैतिक कार्यकर्ताओं के परिवार से आए थे। उनके पिता किशन सिंह क्रांतिकारी संगठनों की मदद करने में शामिल रहते थे और विभिन्न किस्म की सामाजिक सुधारवादी गतिविधियों से जुड़े रहते थे। उनके चाचा अजीत

सिंह ज्यादा आक्रामक तथा उग्र कामों में हिस्सेदार थे और उन्हें 1907 में मंडालय में लाला लाजपतराय के साथ जेल जाना पड़ा था। उनके यही चाचा ब्रिटिश कानूनों के खिलाफ विरोध प्रदर्शनों तथा किसानों की लामबंदी की मुहिमों में शामिल रहते थे। आखिरकार वे देश से गायब ही हो गए। भगत सिंह को गढ़ने में इस तरह के परिवार में पाए जाने वाले रोल मॉडल और उनसे मिलने वाली प्रेरणा का भी योगदान था।

जिस कॉलेज में भगत सिंह पढ़े वह भी कुछ गैर मामूली था और उसने भी भगत सिंह को गढ़ने में अपना बहुतेरा हाथ बंटाया होगा। शुरुआत में ग्रामीण परिवार में बड़े होने के बाद, उन्हें लाहौर में पढ़ने के लिए भेजा गया, जो कि उस वक्त पंजाब का जबरदस्त हलचल भरा महानगर था। आज जिसे हम 11वीं तथा 12वीं कक्षा कहते हैं, वह भी उस वक्त कॉलेज में होती थी। एक बरस डी.ए.वी. कॉलेज में बिताने के बाद वे एक अनूठे संस्थान में चले गए। भगत सिंह कुछ वक्त के लिए ''पंजाबी कौमी विद्यापीठ'' या लाहौर के नेशनल कॉलेज में पढ़े। यह आजादी के आंदोलन के हिस्से के रूप में स्थापित राष्ट्रीय कॉलेजों की एक शृंखला का ही एक हिस्सा था, जो लोगों को ब्रिटिश प्रायोजित शिक्षा छोड़ने के लिए आमंत्रित करता था। गांधी और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं का मानना था कि ब्रिटिश तौर तरीकों वाली शिक्षा व्यक्तियों को सत्ता की भूलभुलैया में जज्ब कर लेती है। इसलिए उन्होंने युवाओं तथा अकादमिकों के लिए कई राष्ट्रीय स्तर के संस्थान स्थापित किए, जिसमें जामिया मिलिया, काशी विद्यापीठ और पंजाब कौमी विद्यापीठ भी शामिल थे। लाहौर नेशनल कॉलेज पर आर्य समाजियों जैसे भाई परमानंद और लाला लाजपत राय जैसों का जबरदस्त असर था। यहीं पर भगत सिंह अपने अध्यापकों जैसे, जयचंद्र विद्यालंकार से बहुत प्रेरित हुए, जिन्होंने उन्हें रूस की क्रांति और जार के खिलाफ लड़ाई में मिली कामयाबी के बारे में बताया। शिक्षार्थियों ने गैरीबाल्डी और मैजिनी जैसे क्रांतिकारियों के बारे में भी सीखा। उन्होंने आइरिश सिन फैन और अंग्रेजों के खिलाफ आजादी की कामयाब लड़ाई के बारे में सीखा। ये सब बहुत ही प्रेरक था।

हमें अक्सर शैक्षिक संस्थानों के बुनियादी ढांचों के बारे में बताया जाता है। इस अनूठे कॉलेज में ऐसा कुछ भी नहीं था। यहां तक कि उनके पास कोई पुस्तकालय भी नहीं था। अध्यापक अपने शिक्षार्थियों से सार्वजनिक पुस्तकालय से उधार ली कई किताबों में से सामग्री पढ़ने के लिए कहा करते थे। शैक्षिक संस्थानों में सबसे महत्वपूर्ण बात इनके अध्यापकों की गुणवत्ता होती है और इस मामले में पंजाबी कौमी विद्यापीठ में कोई कमी न थी। यहां के अध्यापक अपने-अपने क्षेत्रों में जाने-माने बौद्धिक थे और अपने शिक्षार्थियों के साथ काफी दोस्ताना संबंध व खुलापन रखते थे। भगत सिंह के प्राचार्य छबील दास (बख्शी 1988 : 22-23) अपने शिक्षार्थियों के साथ गरमाहट भरे संबंधों के बारे में लिख चुके हैं। वे बहुत सारी चीजों के बारे में बातचीत करते हुए चांदनी रातें नदी के किनारे गुजारते थे। जब छबील दास ने शादी की, तब भगत सिंह ने उनके सामने ही इस बात का विरोध किया और कहा कि शादी उनको अपनी जिंदगी में महत्वपूर्ण कामों को करने में अड़चन पैदा करेगी। छबील दास ने धीरज के साथ जवाब दिया कि ऐसी पत्नी का होना, जो सोचती हो और उनके साथ राजनीतिक और सांस्कृतिक हितों को भी साझा करती हो, वास्तव में उन्हें बहुत कुछ हासिल करने में सक्षम बनाएगा। उन्होंने सुनयात सेन और दूसरे विश्व नेताओं की पत्नियों का उदाहरण दिया। भगत सिंह कुछ देर चुप रह कर बोले, ''गुरूजी, आपको तर्क में कौन मात दे सकता है।'' ऐसे सीखने के माहौल में जो सीखने व बहस करने को बढ़ावा देता हो, उसने भगत सिंह जैसे दिमाग को विकसित होने में मदद की। उसी माहौल में एक 15-16 बरस के शिक्षार्थी के लिए यह मुमकिन हो पाया कि वह अपने प्राचार्य को इस बात के लिए राजी करने की कोशिश कर सके कि वे शादी न करें। उसी में यह भी मुमकिन हुआ कि उनके प्राचार्य भी संजीदगी व तर्क के साथ एक युवा छात्र को अपना जवाब दें। वहां पर एक ऐसे देश की संस्कृति विकसित की जा रही थी, जिसमें साहसिक सवाल और तार्किक विवेचना मुमकिन थी। यह आंख मूंद कर किया जाने वाला आज्ञा पालन नहीं था।

हम बार-बार यह सुनते रहते हैं कि भगत सिंह जबरदस्त पढ़ाकू थे। उनसे मिलने वाले लोग बताते हैं कि उनकी कुर्ते की जेबों में किताबें ठुंसी रहती थीं। अपनी जेल की कोठरी से आखिरी पत्रों में एक पत्र में वह अपने दोस्तों को लिखते हैं कि वह सार्वजनिक पुस्तकालय जा कर पांच किताबें निकाल लाएं और उनके मिलने आने वाले आगंतुक के हाथों

भिजवा दें। उनके बेहतरीन दिमाग की एक झलक हमें फांसी पर लटकाए जाने से दो महीने पहले लाला रामशरण दास की किताब द *ड्रीमलैंड* की भूमिका में भी नजर आती है। मैंने ऐसी भूमिका कभी नहीं पढ़ी। वह किताब के विषय-वस्तु की छानबीन करते हैं और कुछ बिंदुओं पर कहते हैं कि अगर इस लेखक के दिमाग में इन पंक्तियों को लिखते वक्त कुछ खास चीजें हैं, तो हम दोनों के मत एक ही हैं अन्यथा हमारे पक्ष जुदा-जुदा होंगे। भूमिका के अंत में वे कहते हैंः

> ''मैं एक चेतावनी के साथ खास तौर से युवाओं से इस किताब को पढ़ने की सिफारिश करता हूं। कृपया आंख मूंद कर इसका पालन न करें और जो इसमें लिखा है उसे बिना सोचे समझे न मान लें। इसे पढ़ें, इसकी समालोचना करें, इसके बारे में सोचें, और इसकी मदद से अपने विचारों को गढ़ने की कोशिश करें।''

उनके सहपाठी जयदेव गुप्ता ने लिखा है कि भगत सिंह ने 1923 में लाहौर छोड़ दिया था और अपने परिवार से आंशिक तौर पर संबंध तोड़ लिया था ताकि वे शादी के दबाव से मुक्त रह सकें। ऐसा लगता है कि वे पहले से ही अपना मन बना चुके थे कि उनकी जिंदगी आजादी की लड़ाई को समर्पित रहेगी। वे कानपुर चले गए, जो उस वक्त क्रांतिकारी गतिविधियों का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था और वहां पर वे कांग्रेस समर्थित पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी के इर्द-गिर्द बने समूह के सदस्य बन गए। जब वे मिले तब गणेश शंकर विद्यार्थी ने उनसे पूछा कि क्या वे इस राह में आने वाली सारी मुश्किलों के लिए और जरूरत पड़ने पर देश के लिए जान तक देने को तैयार हैं। विद्यार्थी ने 1931 में खुद भी यही किया था, जब कानपुर में दंगे हुए थे तब वे निर्दोष हिन्दुओं व मुसलमानों को बचाने के लिए दंगों में कूद पड़े थे। यह कहा जाता है कि भीड़ के द्वारा उनकी हत्या कर दिए जाने से पहले उन्होंने हजारों लोगों को बचाया था, जिनमें हिन्दु व मुसलमान दोनों ही थे। ऐसे इंसान को भगत सिंह ने कहा कि मैं हर मुश्किल के लिए तैयार हूं। उस वक्त वे 17 बरस के थे।

उन्होंने विद्यार्थी की प्रताप प्रेस में काम करना शुरू किया और जल्द ही युवाओं के एक जीवंत समूह के हिस्सा बन गए जिसमें चंद्रशेखर आजाद, बटुकेश्वर दत्त और कई दूसरे लोग शामिल थे। फिर उन्हें अलीगढ़ के पास स्थापित किए गए नेशनल स्कूल का प्रधानाध्यापक बनाया गया। इसी बीच में उनके परिवार ने उन्हें तलाश लिया और शायर हजरत मोहानी (''चुपके चुपके रात दिन आंसू बहाना याद है'' के रचियता) के जरिए उनसे दरखास्त की कि वे अपनी बीमार दादी की खातिर घर लौट आएं। वे लौटने को राजी हो गए और इसके साथ ही उन्होंने लाहौर व दूसरी जगहों से उनके हमख्याल लोगों द्वारा निकाली जा रही पत्रिकाओं में लिखना शुरू कर दिया। वे जबरदस्त लिक्खाड़ थे, खूब लिखते थे। प्रोफेसर चमन लाल और प्रोफेसर इरफान हबीब अभी भी उनके लिखे पत्रों व दस्तावेजों को खोज-खोज कर हमारे सामने लाते रहते हैं।

कानुपर के बाद वे अक्सर अपनी पहचान छुपाने के लिए बलवंत सिंह का नाम अपना लेते थे। कानपुर में ही वे हिंदुस्तान रिपब्लिक एसोसियशन के सदस्य बन गए थे। अपने कानपुर के अनुभव के साथ वे 1926 में लाहौर लौटे और वहां पर उन्होंने नौजवान भारत सभा की स्थापना की।

हम युवा भगत सिंह के विकास को देख कर समझ सकते हैं कि व्यक्ति अपने आप ही किसी मकसद के प्रति खुद को समर्पित नहीं कर देते। संस्थानों और संस्कृतियों की मौजूदगी के जरिए उनमें यह बदलाव होता है, जिसमें हजारों लोगों का योगदान होता है। जब हम ईमानदारी, साहस और प्रामाणिकता की जिंदगी जीते हैं, तब हम ऐसी संस्कृति में योगदान करते हैं, जो भगत सिंह जैसे व्यक्ति पैदा करती है।

भगत सिंह की राजनैतिक विचारधारा

जब तक भगत सिंह 21-22 बरस के हुए, तब तक उनकी राजनैतिक विचारधारा सामाजिक बराबरी और समतामूलक समाज के लिए संघर्ष करने की बन चुकी थी। वह ऐसे समाज को बनाने की बातें करने व उसके बारे में लिखने लगे थे जिसमें कोई भी अमीर और गरीब न हो। उनका मानना था कि क्रांतिकारी ताकतें समाज में किसानों और मजदूरों में ही बसती है। उनकी मदद हासिल करके ही इस समाज को बदला जा सकता है। उन्हें यह भी अच्छी तरह से पता

था कि इसे हासिल करना कोई आसान काम नहीं है। अब तक उन्होंने ''आदर्शवादी अहिंसा'' पर बातचीत करना शुरू कर दिया। कुछ चीजों के लिए वे मानते थे कि अहिंसा सबसे बेहतरीन तरीका है। लेकिन अगर आप गहरी जड़ें जमाए शोषण की प्रणाली को उखाड़ फेंकना चाहते हों, तब उनका मानना था कि हिंसा का जरूरी तौर पर इस्तेमाल किया जाना चाहिए।

हिंसा और बलिदान की संस्कृति

आज के वक्त में यह समझना मुश्किल हो जाता है कि कैसे एक युवा इंसान ऐसे रास्ते पर चलने के लिए प्रतिबद्ध हो जाता है, जिसके बारे में वह जानता है कि वह रास्ता मौत की तरफ ले जाएगा। भगत सिंह को दुर्घटनावश गिरफ्तार नहीं किया गया था। वह उनकी योजना का उसी तरह से हिस्सा था जिस तरह से अपने मकसद के अधिकतम प्रचार के लिए कोर्ट के कमरे का इस्तेमाल करना भी उनकी योजना का हिस्सा था। उन्होंने अपने दोस्तों से बाद में कहा था कि वे जिंदा रहने के बजाय अपनी मौत से ज्यादा हासिल कर पाएंगे। आज के वक्त में जब किसी भी युवा की जिंदगी बाजारवाद, अच्छी तनख्वाहें, मोबाइल फोन और ज्यादा से ज्यादा उपभोग करने और ज्यादा सनसनाती चीजों से जुड़ी रहती है, तब हमें यह समझने में मुश्किल होती है कि भगत सिंह का ऐसा उन्मुखीकरण कैसे हुआ होगा।

बलिदान और अनुशासन की संस्कृति उनके परिवार और पंजाबी कौमी विद्यापीठ की शिक्षा में रची बसी थी। भगत सिंह जीवन के उठान के दौर में कानपुर में एक ऐसी संस्कृति में डूबे हुए थे, जो खुले ढंग से हिंसा को राजनैतिक रणनीति के तौर पर बढ़ावा देती थी। हिंदुस्तानी रिपब्लिक एसोसियेशन और उसके नेता सचिन सान्याल के पास उसकी भूमिगत इकाई थी जो सक्रिय तौर पर हिंसक क्रांति की संस्कृति को बढ़ावा देती थी। ऐसा लगता है कि 1925 में हिंदुस्तान एसोसियेशन के नाम से लिखा गया पर्चा सचिन सान्याल ने ही लिखा था, जिसमें अराजक-आंतकवाद, उत्पीड़न के तमाम तंत्रों को नेस्तनाबूद करने के लिए रास्ते के तौर पर हिंसा का समर्थन किया गया था। अराजक-आतंकवाद एक राजनैतिक विचारधारा है, जिसने 19वीं सदी के अंत में यूरोप व अमेरिका में लोकप्रियता हासिल की थी। इसका बुनियादी विचार यह था कि हिंसा का नाटकीय स्वरूप जनता की जड़ता को तोड़ने के लिए जरूरी होता है। उनके विचार से यह विचारधारा उत्पीड़कों को कमजोर करती है और लोगों को एकजुट करती है। अराजक-आतंकवाद के सिद्धांत को हिदुस्तानी रिपब्लिक एसोसियेशन द्वारा सक्रिय तौर पर अपनाया गया और ऐसा लगता है कि इसी ने सांडर्स की हत्या और बाद में नेशनल लेजिस्लेएटिव एसेंबली में डाले गए बम को निर्देशित किया, जिसकी वजह से पहले भगत सिंह को कैद तथा बाद में फांसी की सजा हुई।

उनकी जिंदगी के दौरान राजनीति व हिंसा को लेकर उनके विचारों में आए बदलाव को हम देख सकते हैं। शुरुआती बरसों में हमें उनके लेखन में बलिदान और साहस को लेकर जुनून नजर आता है। लेकिन कोई व्यापक रणनीति या भविष्य के लिए कोई योजना नजर नहीं आती। यहां 19 बरस की उम्र में प्रताप में बब्बर अकालियों की तारीफ में लिखे गए एक लेख का एक अंश दिया गया है। वे अपने मन में एक ऐसे दृश्य की कल्पना करके वर्णन कर रहे हैं, जहां पर कुछ क्रांतिकारियों को पुलिस ने घेर लिया हैः

> ''हमने अपना सब कुछ देश की सेवा में कुर्बान कर दिया है। हम लड़ते हुए मर जाने की कसम खाते हैं लेकिन जेल नहीं जाएंगे।
>
> वह कैसा खूबसूरत व पवित्र नजारा होगा, जब अपने सारे पारिवारिक बंधनों व लगावों को छोड़ चुके लोग इस तरह की कसम खाते हैं! बलिदान का अंत क्या होता है? साहस और निडरता की सीमा कहां है? आदर्शवाद का शिखर कहां बसता है?''

उनके बाद के लेखन में उनकी ज्यादा परिपक्व हो चुकी नजर देखने को मिलती है। जेल में लिखे गए लेखों में वे लगातार इस बात पर जोर देते हैं कि वे हिंसा, बम और बंदूकों की संस्कृति में भरोसा नहीं करते हैं, इसके बजाय वे ठोस सामाजिक लक्ष्यों के बारे में लिखते हैं। वे शोषण और उत्पीड़न से उबरने की तमन्ना के बारे में बातचीत करते हैं।

वो युवा राजनैतिक कार्यकर्ताओं को एक संदेश लिखते हैं कि यह बंदूकों के लिए सही वक्त नहीं है। इसके बजाय वे यह सलाह देते हैं कि वे युवाओं का आंदोलन खड़ा करें और उसके जरिए एक क्रांतिकारी पार्टी खड़ी करें। वे कहते हैं कि समझौते किए जाने चाहिए और समझौते करना कोई ऐसी चीज नहीं है जिससे बचा जाए। वे दुनिया में हो रहे क्रांतिकारी आंदोलनों का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि समझौतों के जरिए धीरे-धीरे आंदोलन गति पकड़ने लगते हैं। वे सोलह आने (उस वक्त एक रुपये में सोलह आने होते थे) की मांग करने और उसकी जगह एक आना मिलने का रूपक काम में लेते हैं। उन्होंने कहा कि हमें मिला हुआ एक आना अपनी जेब में रख लेना चाहिए और ज्यादा आने मांगने की तरफ कदम बढ़ा देने चाहिए। इसके बजाय नरमपंथी गलती यह करते हैं कि वे एक ही आना मांगते हैं और उन्हें वो भी नहीं मिलता है।

अब तब हिंसा के इस्तेमाल के बारे में भगत सिंह का एक अलग नजरिया बन चुका था। वे कहते हैं कि पहली और प्रमुख चीज एक राजनैतिक पार्टी का गठन है। उसकी सैन्य शाखा बनाना उसके बाद का काम है और यह राजनैतिक पार्टी की मदद के लिए होता है।

> ''मुझे अपनी पूरी ताकत से यह घोषणा करने दीजिये कि मैं आतंकवादी नहीं हूं और न ही कभी था, शायद अपने क्रांतिकारी कामकाज के शुरुआती जीवन के कुछ हिस्से को छोड़ कर। अब मुझे इस बात में पूरा यकीन है कि हम इन तरीकों से कुछ भी हासिल नहीं कर सकते... अगर किसी को मेरी बातों से गलतफहमी हो गई हो तो वे अपने विचारों को दुरस्त कर लें। मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि बम और बंदूक बेकाम की चीजें हैं। लेकिन मेरे कहने का मतलब यह है कि सिर्फ बम फेंकना न सिर्फ फालतू का काम है बल्कि कभी-कभी यह नुकसानदायक भी होता है। पार्टी की सैन्य शाखा को किसी भी आपातकाल के लिए अपने पास मौजूद युद्ध सामग्री के साथ हमेशा तैयार रहना चाहिए। उसे पार्टी के राजनैतिक काम का समर्थन करना चाहिए। वह अकेले स्वतंत्र तौर पर न तो काम कर सकती है और न ही करना चाहिए।''

भगत सिंह की राष्ट्र की कल्पना

तो भगत सिंह किस किस्म के राष्ट्रवाद में यकीन करते थे और उस पर अमल करते थे? यहां पर इस बात को याद रखना जरूरी है कि राष्ट्रवाद एक संस्कृति होती है - इसमें मूल्यों, रवैयों और मान्यताओं का एक मिश्रण होता है। राष्ट्रवाद की अलग-अलग संस्कृतियां हो सकती हैं। भगत सिंह का राष्ट्रवाद गरीबों के साथ तथा शोषण को उखाड़ फैंकने के प्रति गहरी प्रतिबद्धता रखता है। वह पढ़ने और सोचने से ताल्लुक रखता है। उनके मुताबिक राष्ट्र की सेवा करने का मतलब ऐसे संगठनों का निर्माण करना है जो ऐसे समाज को जड़ से उखाड़ फैंकें जहां पर कुछ लोग बाकी सब लोगों को अपने पैर के अंगूठे के नीचे दबा कर रखते हैं।

इसकी तुलना दूसरी किस्म के राष्ट्रवादों के साथ करें। एक तरह का राष्ट्रवाद यह कहता है कि मैं अपने देश से मोहब्बत करता हूं लेकिन उसके लिए कुछ नहीं करूंगा। वह कहता है कि मैं तो सिर्फ अपना कॅरियर बनाऊंगा और दूर बैठ कर सिर्फ दूसरों के कामों की तारीफ करता रहूंगा। यह भगत सिंह का राष्ट्रवाद नहीं है। वे तो खुद आगे बढ़ कर देश के लिए काम करने के लिए कूद पड़ने वालों में से थे। एक दूसरे किस्म का राष्ट्रवाद है जो यह कहता है कि मैं अपने देश की पूजा करता हूं, मेरा देश अतीत में महान था और अभी भी महान है, मैं अपने देश के खिलाफ एक लफ्ज भी नहीं सुनूंगा। यह भी भगत सिंह मार्का राष्ट्रवाद नहीं है। वे तो सबसे पहले अपने देश की सामाजिक बुराइयों की आलोचना करते हैं। उनके लिए देशभक्ति का मतलब खुद की बुराइयों से आंखे मूंद लेना नहीं है, बल्कि उन्हें मिटाने की कोशिश करना है। इसके लिए वे दूसरे देशों से सीखने के लिए भी खुले हैं। एक और दूसरी किस्म का राष्ट्रवाद है जो यह कहता है कि धर्म देश की पहचान की बुनियाद होना चाहिए। वह इसे भी खारिज करते हैं। उनके लिए सभी धर्म राष्ट्र का ही एक हिस्सा हैं। और तो और, स्वतंत्रता के लिए दीर्घकालिक संघर्ष भी पूरी तरह से धर्म पर भावनात्मक निर्भरता से भागने का संघर्ष है। भगत सिंह का राष्ट्रवाद एक ऐसे समाज को बनाने की लड़ाई है, जिसमें न तो कोई

अमीर हो और न ही गरीब हो, जहां लोग साहस और स्पष्टता के साथ सोच विचार कर सकें, जहां किसी का भी शारीरिक व मानसिक उत्पीड़न न हो। उनके राष्ट्रवाद का ताल्लुक हिम्मत और स्पष्ट चिंतन की संस्कृति को गढ़ने से है।

आलोचना और मूल्यांकन

हम भगत सिंह के जीवन और विचारों से निकलने वाले शैक्षिक नतीजों की तरफ बढ़ें उससे पहले हमारे लिए यह पूछना भी बेहतर होगा कि क्या उनमें कोई खोट है। 23 बरस की उम्र में ही गुजर जाने वाले युवा भगत सिंह के बारे में ऐसी बहुत सी चीजें हैं जो उन्हें अनूठा बनाती हैं। फिर भी हमें उनकी नायक पूजा नहीं करनी चाहिए। हमें उनका भक्त नहीं बनना चाहिए जो उनके किसी भी विचार में कोई भी खोट ही न देख सके। उनमें भी कई तरह की समस्याएं हैं। आखिरकार वे भी अपने वक्त की ही पैदाइश थे। आज हम देख सकते हैं कि सामाजिक विषमता के बारे में उनका विश्लेषण बुनियादी तौर पर उस वक्त का मार्क्सवादी विश्लेषण था। इसकी कमजोरी यह है कि वह सामाजिक वर्गों और उनकी क्रांतिकारी संभावनाओं का सरलीकृत विश्लेषण है। उनके वैचारिक ढांचे में जाति की मौजूदगी बेहद ही कमजोर है। इसी तरह पितृसत्ता करीब-करीब गैर मौजूद ही है। राज्य का उनका सिद्धांत शास्त्रीय मार्क्सवादी पक्ष है जिसमें राज्य को पूंजीवादी वर्ग की कठपुतली माना जाता है। आज हम इतने सरलीकृत ढंग से नहीं सोचते हैं। इसके बावजूद उनके कामों व विचारों में बहुत कुछ ऐसा है जो अनूठा है। उन विचारों को हम चुन कर रख सकते हैं। इस एहतियात को बरतते हुए अब हम यह देखते हैं कि हम उनसे क्या सीख सकते हैं, जो आज के भारत की शिक्षा में बेहद काम का है।

शैक्षिक कार्यसूची यानी अजेंडा

भगत सिंह के विचारों से आज की शिक्षा के लिए कुछ नतीजे निकाले जा सकते हैं। लाला राम शरण दास की किताब *''ड्रीमलैंड''* के लिए लिखे गए उनके ''परिचय'' से पहला नतीजा यह निकाला जा सकता है, जिसमें वे हमें चेतावनी देते हैं कि भारत में बेहतर शिक्षा को बनाने का रास्ता राजनैतिक संघर्ष के साथ-साथ ही बनेगा। वे इस बात से सहमति रखते थे कि समता और न्याय पर आधारित नई दुनिया शिक्षा के जरिए मुमकिन है। लेकिन आप ऐसी शिक्षा प्रणाली कैसे बनाएंगे। उत्पीड़न और शोषण की दुनियावी प्रणालियां ऐसी संस्कृति या शिक्षा को उभरने का मौका ही नहीं देती। पहले उनका राजनैतिक तौर तरीकों (जिसमें सैन्य तौर तरीके भी शामिल होंगे) से विरोध करना होगा। सिर्फ उसके बाद ही लोगों के दिमागों को खोलने वाली व उन्हें प्रबुद्ध बनाने वाली शिक्षा को गढ़ पाना मुमकिन होगा।

हम उनसे दूसरी चीज यह सीख सकते हैं कि शिक्षा को उत्पीड़न या दमन से मुक्ति करने वाला होना चाहिए। उसे स्पष्ट तरीके से चिंतन करना तथा साहस सिखाना चाहिए। उसे लोगों को शोषण की बेड़ियों से मुक्त करना चाहिए और सोचने के पेचीदा तरीके सिखाने चाहिए। एक शब्द में कहें तो उसे मुक्तिदायी शिक्षा होना चाहिए। यहां हम देख सकते हैं कि भगत सिंह पॉउलो फ्रेरे और ज्योतिबा फुले की ही परंपरा से आते हैं, वह हमें ऐसी चीज करने के लिए कह रहे हैं, जिसे हम आज आलोचनात्मक शिक्षाशास्त्र कहते हैं।

हालांकि आजकल के विद्यालय पाठ्चर्या तथा शिक्षाशास्त्रीय अभ्यासों में यह चीज बमुश्किल ही दिखलाई पड़ती है। मैं अपनी बात को सामाजिक अध्ययन की पाठ्यपुस्तकों में कुछ अच्छा और कुछ साधारण से उदाहरण लेकर समझाता हूं। जब हम उन्हें देखें तो हमें यह नहीं देखना चाहिए कि उसमें भगत सिंह का फोटो है या नहीं। इसके बजाय हमें यह देखना चाहिए कि उसमें दिमाग को मुक्त करने तथा सामाजिक गैरबराबरी से उबरने के लिए, मुक्ति पर जोर है या नहीं। 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के बाद एनसीईआरटी द्वारा और एकलव्य तथा केरल तथा छत्तीसगढ़ द्वारा बनाई पाठ्यपुस्तकें संभवतः भगत सिंह के राष्ट्रवाद के सबसे करीब हैं। एनसीईआरटी की कक्षा 8 की सामाजिक व राजनैतिक जीवन वाली पाठ्यपुस्तकों से एक उदाहरण लेते हैं। उसमें एक पाठ समानता पर है, जो जल्द ही होने वाले राष्ट्रीय संसद के चुनावों के मद्देनजर बेहद प्रासंगिक है। यह पाठ इस बात की खुशी मनाता है कि चुनावों में वोट देते वक्त

एक लाइन में खड़े हम सब बराबर है। लेकिन इसके साथ ही यह इस बात की तरफ भी बच्चों का ध्यान खींचता है कि वोट की लाइन के अलावा बाहर की जिंदगी में हमें ढेर सी गैर बराबरी का सामना करना पड़ता है। चित्र में दिखाई गई औरत के पास अपने बीमार बच्चे को डॉक्टर के पास ले जाने के लिए शाम तक इंतजार करने के अलावा कोई विकल्प नहीं है, क्योंकि वह तब तक ही काम पूरा करके अपने घर लौटती है। बीमारी के कारण उसके सामने बहुत साफ हैं - कच्ची बस्ती में जीने के अस्वास्थ्यकर हालात। और फिर भी उसकी लाचारी है, क्योंकि वह यह कल्पना नहीं कर सकती है कि इन हालातों को ठीक करने के लिए वह क्या कर सकती है। यहां पर इस पाठ्यपुस्तक में हम एक नजरिया देख सकते हैं जो भगत सिंह के विचारों से मेल खाता है। वह हमारा ध्यान हमारे समाज में मौजूद गैर बराबरियों की तरफ खींचता है और एक जरूरी लहजे में हमसे पूछता है कि हम इनके बारे में क्या कर सकते हैं।

इस पर ध्यान देना भी जरूरी है कि एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकें कक्षा 10 तक भगत सिंह के बारे में बात नहीं करती हैं। उनके मूल्यों को साझा करने के लिए उनकी बात करना जरूरी भी नहीं है। और फिर भी हम पाते हैं कि बहुत से विद्यालयों में भगत सिंह पर नाच व गाना होता है, लेकिन वे इस बात को नहीं समझते कि भगत सिंह आखिर क्या कह व कर रहे थे। इसके साथ ही एक दूसरी तस्वीर है जो एक राज्य की पाठ्यपुस्तक से ली गई है और जिसमें भगत सिंह के बारे में बात की गई है, लेकिन उसमें ऐसे पंडिताऊ लहजे में वर्णन किया गया है कि बच्चा समझ ही नहीं पाएगा कि भगत सिंह किसके लिए जिए और किसके लिए मरे। भगत सिंह की विचारधारा को बहुत ही संक्षिप्त व सटीक भाषा में व्यक्त किया गया है। लेकिन उसका कुछ खास फायदा नहीं है क्योंकि दरअसल ज्यादातर विषयवस्तु व शिक्षाशास्त्र उसका उलट है।

भगत सिंह से जुड़े गीतों के बारे में मुझे हमेशा इस बात का अफसोस होता है कि हम जिस तरह से उन्हें गाते हैं और याद रखते हैं वह भगत सिंह की हिंसा और उनके शुरुआती दिनों की उनकी बलिदान की संस्कृति है। हम उनके तर्काधारित विवेकवाद यानी रेशनलिज्म, सामाजिक बराबरी के प्रति उनकी प्रतिबद्धता और उनके ज्ञान के फैलाव के प्रति उनके लगाव को भूल जाते हैं।

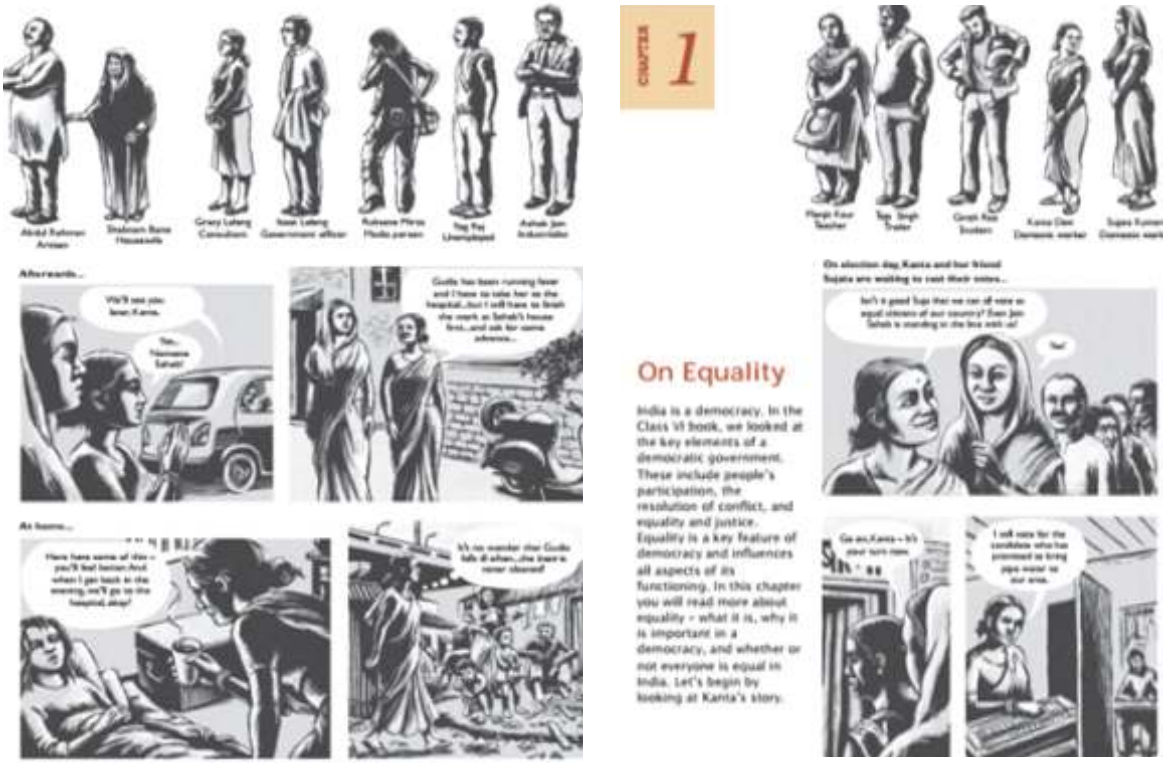

hanged. But Chandrashekhar Azad managed to escape.

Hindustan Socialist Republican Association : The young men influenced by socialist ideas decided to set up a nation wide revolutionary organisation. Prominent among them were Chandrashekhar Azad, Bhagat Singh, Rajguru, Sukhdev etc. All these revolutionaries were secular in their thoughts. In 1928 in the meeting held at Feroz Shah Kotla ground in Delhi, these young men established the organisation called 'Hindustan Socialist Republican Association'.

Bhagat Singh

The objective behind the establishment of this organisation was to free India from British exploitation. It also wanted to overthrow the unjust socio-economic system which exploited the farmers and workers. Bhagat Singh gave importance to creation of a society based on social justice and equality.

The work of gathering arms and execution of programmes was entrusted to a seperate wing of the organisation. This wing was called 'Hindustan Socialist Republican Army' and Chandrashekar Azad was the chief of this wing.

Rajguru

Sukhdev

Members of this organisation carried out many revolutionary activities. Bhagat Singh and Rajguru fired bullets and killed an officer named Saunders in order to avenge the death of Lala Lajpat Rai.

The Government had introduced two bills in the Central Legislative Assembly, curtailing civil rights. To protest it, Bhagat Singh and Batukeshwar Dutta threw bombs in the Central Legislative Assembly.

The British Government immediately raided the centres of 'Hindustan Socialist Republican Army'. Through it the police also obtained clues related to the killing of Saunders. The government started arresting the revolutionaries. They were tried under the charge of sedition. On 23 March 1931, Bhagat Singh, Rajguru and Sukhdev were hanged in the Lahore jail. But till the end Chandrashekhar Azad did not fall into the hands of the police. Later he died in an encounter with police at Alfred Park in Allahabad.

Attack on Chittagong Armoury : Surya Sen was the chief of the revolutionary group at Chittagong in Bengal. He had gathered around him revolutionaries like Anant Singh, Ganesh Ghosh, Kalpana Dutta, Pritilata Waddedar. With their assistance, Surya Sen drew up a plan to attack the armoury at Chittagong. As per the plan, on 18 April 1930 the revolutionaries seized the arms from the two armouries in Chittagong. The telephone and telegraph lines were broken and they succeeded in paralysing the communication system. After that they gave a thrilling fight to the British army.

Surya Sen

On 16 February 1933, Surya Sen and

जब हम यह देखते हैं कि इस देश ने भगत सिंह के बारे में क्या याद रखा है और उनका असली मकसद क्या था, तब हम गालिब के इस शेर को दोहरा सकते हैं, जिसके बारे में यह मशहूर है कि वह भगत सिंह का भी बेहद पसंदीदा शेर था :

या रब वो न समझे हैं न समझेंगे मेरी बात
दे और दिल उनको जो न दे मुझको जुबां और ◆

(सालाना शहादत दिवस पर अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलुरू में दिए गए व्याख्यान की लिखित प्रस्तुति, 29 मार्च, 2019); https://youtu.be/MDwqMvtDQbo)

लेखक परिचय : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

संपर्कः amman.madan@apu.edu.in

संदर्भ

भगत सिंह के सभी उद्धरण : गुप्ता, डी.एन., सं. 2010, भगत सिंह : सलेक्टेड स्पीचेज एंड राईटिंग्स। नई दिल्लीः नेशनल बुक ट्रस्ट।

अंबेडकर, बी. आर. (1989). रानाडे, गांधी और जिन्ना. वी मून (संस्करण), डा. बालासाहेब अंबेडकर : लेखन और भाषण (भाग-1, पृ. सं. 211-240). मुंबई : शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र सरकार। (1943 में प्रकाशित मूल काम)

बख्शी, एस.आर.1988. रिवोल्यूशनरीज एंड द ब्रिटिश राज। नई दिल्ली : एटलांटिक पब्लिशर्स एंड ड्रिस्ट्रीब्यूरटर्स

Madan, Amman. 2019. "Bhagat Singh's Version of Nationalism and What It May Mean for Indian Education." The New Leam, June 4, 2019.

http://thenewleam.com/2019/04/bhagat-singhs-version-of-nationalism-and-what-it-may-mean-for-indian-education

क्या शिक्षा शांति में सहायक हो सकती है?

भाग-I

कृष्ण कुमार

अनुवाद : लतिका गुप्ता

परिचय

शीर्षक में उठाए गए सवाल का एक जाली उत्तर दिया जा सकता है कि हां, शिक्षा यह कर सकती है पर करती नहीं है। शिक्षा और शांति दोनों के ही एक से ज्यादा अर्थ होते हैं। एक व्यापक समझ के लिए उसके दोनों अर्थों में अंतर करना जरूरी है। अर्थ का एक दायरा शिक्षा की अवधारणा में निहित है और दूसरा इशारा करता है उस ओर जब हम एक व्यवस्था की बात करते हैं। यह अंतर शांति के संदर्भ में शिक्षा की चर्चा के लिए खास तौर पर जरूरी है क्योंकि व्यवस्थागत अर्थ उस प्रभाव को दिखाता है जो आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां शिक्षा पर डालती हैं और अवधारणात्मक अर्थ शांति में सहायक बनने हेतु शिक्षा में सुधार की संभावना दिखाता है। युनैस्को द्वारा प्रकाशित यह लेख चार खण्डों में है जो अगले तीन अंकों में प्रकाशित किया जाएगा। यहां प्रस्तुत पहले खण्ड में एक वक्तव्य है और शांति के दार्शनिकों के विचारों पर चर्चा प्रस्तुत की गई है।

खण्ड 1 : सरहद लांघना

दो दशक पूर्व मैं एक अनुभव से गुजरा जिसने मुझे आश्वस्त कर दिया कि शांति शिक्षा कितनी जरूरी है। 1998 में मैंने भारत एवं पाकिस्तान में इस्तेमाल हो रही इतिहास की पाठ्यपुस्तकों का एक अध्ययन शुरू किया था। मेरा अध्ययन उपनिवेश-विरोधी या राष्ट्रवादी संघर्ष पर सीमित था। यह अतीत का वह हिस्सा था जो 1947 में विभाजन के क्षण से पहले तक दोनों आधुनिक राष्ट्रों के बीच साझा था। मेरी रुचि यह जांचने में थी कि 1857 से 90 साल के लंबे वक्त- जिस दौरान अंग्रजों ने पहला बड़ा विद्रोह झेला फिर आजादी और फिर 1947 में विभाजन तक- पर दोनों देशों में इस्तेमाल होने वाली मुख्यधारा की पाठ्यपुस्तकों में किस प्रकार का वर्णन दिया गया है। पाठ्यपुस्तकों के शुरुआती विश्लेषण के बाद मैंने पाकिस्तान की यात्रा का मन बनाया और दिल्ली-लाहौर बस से जाने का निर्णय लिया। वह बस सेवा हाल ही में शुरू हुई थी और तत्कालीन दोनों सरकारों की साझा आकांक्षाओं का प्रतीक थी जिससे उस समय दुतरफा रिश्ते सुधार की उम्मीद रखी गई थी। इस तरह के प्रतीकात्मक कामों से दोनों देशों के बीच की शत्रुता में कई बार अवरोध पैदा हुआ लेकिन चिरस्थायी शांति न आई। हमारी बस नई दिल्ली से सुबह-सुबह निकली और पूरा दिन लगा कर वाघा पहुंची जहां भारत-पाक सीमा पर दोनों तरफ से आने वालों को आधिकारिक स्वीकृति दी जाती है। पासपोर्ट एवं सामान की पड़ताल में बहुत समय लगा और उसके बाद ही मैं अन्य मुसाफिरों के साथ अगली बस पर चढ़ पाया। जैसे ही बस चली मेरी नज़र पास ही खाली पड़े जमीन के टुकड़े पर गई जिस पर लड़कों का एक समूह क्रिकेट खेल रहा था। यह एक आम और साधारण दृश्य था लेकिन मेरे मन में यह विचार उमड़ा कि उनके लिए अतीत तथा वर्तमान की तामीर बहुत अलग थी। उनके पाकिस्तानी होने

और मेरे भारतीय होने के कारण शिक्षा ने अतीत का अलग ज्ञान रचने में जो भूमिका निभाई थी वह उस क्षण में स्पष्ट हो गई कि यही भूमिका तो दोनों देशों के बीच शत्रुता बनाए रखने में शिक्षा निभाती है। यह अनुभूति उस क्षण में मेरे दिमाग में कौंधी।

सारी दुनिया में राष्ट्रीय सीमाएं दो देशों के बीच ज्ञानात्मक विभाजन की तरह काम करती हैं लेकिन हरेक प्रकरण में वे एतिहासिक ज्ञान में इतनी भिन्नता पैदा नहीं करतीं जितना साफ तौर पर वे भारत एवं पाकिस्तान के संदर्भ में करती हैं। राष्ट्रों के बीच की सीमाएं आधुनिक राज्य की उस भूमिका को चिह्नित करती हैं जिसके तहत यह तय होता है कि सीमा के अंदर के राष्ट्र से संबद्ध होने के लिए नई पीढ़ी क्या सीखेगी। राज्य अपने प्रभुत्व से यह जांचता है कि स्कूल राष्ट्र के प्रति किस तरह की अनुरक्ति पैदा करेंगे और वह कितनी प्रगाढ़ होगी।

शांति शिक्षकों की परंपरा

शैक्षिक मुद्दे के रूप में शांति की तरफ कई आधुनिक दार्शनिक आकर्षित हुए हैं। करीब-करीब सभी ने शांति के संदर्भ में शिक्षा की भूमिका की जांच इस हवाले से की है कि राष्ट्रवाद शिक्षा व्यवस्था पर कैसे दवाब डालता है। टैगोर, गांधी, कृष्णमूर्ति एवं बर्टन्ड रसल चार मुख्य आधुनिक दार्शनिक हैं जिन्होंने आधुनिक समय में शिक्षा की इस बाध्यता को जांचा। चारों ने ही अपना ध्यान उन अंतर्विरोधों पर केंद्रित किया जो बचपन में अधिगम या सीखने को राष्ट्रवादी तकाजों के तहत आक्रान्त रखते हैं और राज्य द्वारा जिनकी मांग स्कूल और शिक्षकों से की जाती है। आज के समय में इन दार्शनिकों की कही बातों का पालन करना कई देशों में संभव नहीं है जहां राष्ट्रीय जोश एवं गर्व पुनरुत्थान के दौर से गुजर रहे हैं। एक संक्षिप्त दौर में टैक्नोलॉजी समर्थित बाजार- अनुकूल वैश्वीकरण के विमर्श ने राष्ट्रीय सीमाओं एवं बाधाओं को उदार बनाने का दावा किया और लोप्रियता हासिल की- उसके बाद राजनीतिक रूप से आवेशित राष्ट्रवाद दुनिया के कई हिस्सों में दोबारा उठा है। टैगोर ने युद्ध के दौर में इसी तरह के राष्ट्रवाद के प्रति हमें सचेत किया था कि यह इंसानी विवेक एवं जीवन के लिये एक खतरा है (टैगोर, 2004)। हालांकि टैगोर औपनिवेशीय आधिपत्य से भारत की आजादी के पक्ष में थे लेकिन राजनीतिक सरोकारों से बंधे राष्ट्रीय समुदाय के विचार से वे बेचैन रहते थे। इंसानी एकता में उनका सरोकार उन आदर्शों से प्रेरित था जो राष्ट्रीय स्तर पर परिभाषित रुचियों एवं असुरक्षाओं से परे और आगे थे। संकुचित राष्ट्रीय लालसाओं की आक्रामक अभिव्यक्ति के दौर में मानववादी अभिलाषा को खोजने एवं परिभाषित करने के प्रयास में गांधी एवं टैगोर एक संभाषणीय रिश्ते में जुड़े। अंग्रजों के शासन के खिलाफ भारत के संघर्ष के अधिनायक की भूमिका अदा करते हुए गांधी के राजनीतिक विचारों को संपूर्ण अभिव्यक्ति मिली (शियान, 1949)। टैगोर एवं गांधी के समकालीन श्री अरविंद (2007) ने इंसानी एकता एवं समाज के रूप में भारत की अखंडता के विचार की अभिव्यक्ति प्रकृति के हवाले से दी जिसमें अनन्त विविधता होती है।

बर्टन्ड रसल (1916) ने भी राष्ट्रवाद की उस भूमिका में अंतर किया जो वह राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन के बरक्स सांस्कृतिक जीवन में अदा कर सकता है। जीवन के बाद के समय में उनका सोचना था कि राष्ट्रवाद घातक भूमिका निभा सकता है। वैश्विक आणविक युद्ध के खतरों के खिलाफ रसल की सक्रियता ने उन्हें बच्चों की शिक्षा की भूमिका की आलोचना की तरफ मोड़ा, खासकर इतिहास का शिक्षण, जिसके कारण विरोधात्मक अस्मिताएं सुदृढ़ होती हैं। उनका सुझाव था कि स्कूलों में इस्तेमाल के लिए राष्ट्रीय इतिहास विदेशियों से लिखवाया जाना चाहिए। अगर कोई देश आज इस पर गंभीरता से विचार करे तो उसे उपहास झेलना होगा। भावनात्मक रूप से आवेशित अहम के निर्माण में शिक्षा की भूमिका के मद्देनजर रसल के विचारों की गूंज कृष्णमूर्ति के विचारों में सुनाई देती है। 'शिक्षा एवं जीवन का महत्व' शीर्षक से छपे अपने संवादों में कृष्णमूर्ति ने कहा कि आधुनिक शिक्षा में विश्व की शांति के लिए खतरा निहित है कृष्णमूर्ति, (1953)। यहां यह याद दिलाना जरूरी है कि कृष्णमूर्ति शिक्षा के उस स्वरूप की बात कर रहे थे जो प्रचलित है और आम तौर पर जिस से तरह दी जाती है। पांचों ही दार्शनिकों ने शिक्षा एवं शिक्षणशास्त्र को सुधारने के मौलिक सुझाव दिए।

कृष्णमूर्ति के विचारों में केवल राष्ट्रवाद ही नहीं शिक्षा द्वारा प्रोत्साहित कोई भी सामूहिक अस्मिता उसके शांति पनपाने की संभावना को क्षीण कर देती है। शिक्षा की अपनी आलोचना में कृष्णमूर्ति ने यह कहते हुए भाषा और धर्म को सामूहिक अस्मिता के चिह्न माना और कहा कि जब इन दोनों की तालीम के जरिए शिक्षा आम सामूहिक स्व का निर्माण करने लगती है तो वह उन लोगों की तरफ नकारात्मक भावनाएं उकसाने लगती है जिनका धर्म अलग होता है या जो अलग प्रकार की भाषा बोलते हैं। इस सामूहिक अस्मिता को सक्रिय बढ़ावा देने से 'अन्यता' या 'पृथकत्व' का प्रभाव पैदा होता है। शिक्षा इस प्रभाव को दो कारणों से तीक्ष्ण करती है। एक है कि शिक्षा बचपन में होती है जब सामूहिक स्व-छवि के विमर्श के आत्मसात होने की संभावना अधिक होती है। दूसरा, शिक्षा की प्रक्रिया में शिक्षक शामिल होता है जिसकी वजह से मिलने वाली जानकारी में एक बल आ जाता है जो कि यूं ही सामान्य तौर पर बड़े होने के दौरान होना संभव नहीं होता।

शिक्षा, शांति एवं युद्ध

यह आम राय कि शिक्षा शांति में योगदान देती है दरअसल घर एवं स्कूल के संबंध और पढ़ाई की प्रक्रिया की अधूरी समझ पर आधारित है। शिक्षा एक शांतिपूर्ण संसार की नींव रख सकती है और रखती है इस दावे में बल उसकी आकर्षित करने की क्षमता से आता है। कौन यह नहीं मानना चाहेगा कि शिक्षा शांति लाने की शक्ति है? सही में, अगर इस मुद्दे पर एक सर्वेक्षण किया जाए कि लोग क्या सोचते हैं तो यह मत पुर्जोर व्यक्त होगा शिक्षा ने तो दुनिया को पहले से ही बहुत शांतिपूर्ण बना दिया है। इस फैसले के पक्ष में सबूत यह कह कर दिया जाता है कि पिछली शताब्दी के दो विश्व युद्धों को हुए इतने दशक बीत चुके हैं। कई लोग पिछले सात दशकों में कोई बड़ा युद्ध न होने का कारण शिक्षा के विस्तार को मानते हैं।

इस वाद में दो स्पष्ट समस्याएं हैं। एक समस्या उठती है 'युद्ध' या 'बडा युद्ध' शब्द के चुनिंदा इस्तेमाल से। दूसरी समस्या उठती है 'बडे युद्ध' के तथाकथित न होने को शिक्षा के विस्तार पर प्रत्यारोपित करने से। आइए इन दोनों समस्याओं का विश्लेषण करें। यह कहना कि पिछले सात दशक उससे पहले के दो दशकों के मुकाबले शांतिपूर्ण रहे तभी तक संभव है जब तक हमारा ध्यान सिर्फ तथाकथित 'विकसित' दुनिया तक सीमित हो। इस शब्द में सिर्फ पश्चिमी दुनिया के देश आते हैं और कुछ पूर्वी एशिया के खासकर जापान। अगर हम शांति के अर्थ को युद्ध न होने तक सीमित कर दें तो भी बाकी की सारी दुनिया में दूसरे विश्व युद्ध के बाद के समय को बमुश्किल ही शांतिपूर्ण कहा जा सकता है। अमेरिका ने वियतनाम में जो दारुण हिंसा बरपाई या रवांडा, कंबोडिया और चिले में गृह युद्ध हुए उनमें मरने वाले साधारण लोगों की संख्या दूसरे विश्व युद्ध में मरने वालों से तुलनीय थी और इसमें वे शामिल नहीं हैं जो जापान पर अमेरिका के परमाणु हमले में मरे। हाल के समय में अफगानिस्तान एवं इराक का हाल वियतनाम जैसा हुआ है और श्रीलंका में भीषण गृह-युद्ध चला है। इन सभी देशों के नाम बताते हैं कि दूसरे विश्व युद्ध के बाद के दशकों में हिंसक द्वंद मुख्यतः गरीब या तथाकथित विकासशील देशों में हुए हैं। हिंसा के अपने रिकार्ड में हमें चलती जा रही उन घटनाओं को शामिल कर लेना चाहिए जिनको हम आतंकी या आतंकवाद कहते हैं। बीसवीं शताब्दी के दो विश्व युद्धों और युद्ध पश्चात क्षेत्रीय विवादों में हुई मौतों की विशुद्ध तुलना बड़ी मुश्किल है और व्यर्थ भी। उससे कुछ हासिल नहीं होगा सिवाय इसके कि बाद के समय को हम शांतिपूर्ण या अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण भी नहीं कह पाएंगे।

दूसरी समस्या पर फिर से आते हैं। जो लोग युद्ध पश्चात दौर में अपेक्षाकृत शांति में शिक्षा की भूमिका देखते हैं वे निश्चित ही युद्ध एवं हिंसा के उन स्वरूपों को अनदेखा करते हैं जो आधुनिक इतिहास में इंसानियत के सामने पेश आए हैं। अगर शिक्षा सही में शांति का मार्ग दिखाती तो पहले और आज भी सबसे ज्यादा शिक्षित देश इतनी भयानक हिंसा के ठिकाने न होते और न ही अपनी लोकतांत्रिक संस्कृति और शैक्षिक उपलब्धियों के लिए जाना जाने वाला देश अमरीका दूसरे देशों खासकर गरीब देशों में इतनी व्यापक हिंसा बरपाता। अगर शिक्षा का विस्तार शांति से जुड़ा एक कारक है तो दक्षिण एशिया में साक्षरता व आरंभिक शिक्षा में अपने पड़ोसियों से कहीं आगे चल रहा देश श्रीलंका इतने भीषण व लम्बे गृह युद्ध से न जूझता। हम यह तर्क दे सकते हैं कि शिक्षा शांति की संभावना बढ़ाती है अगर

हम उसको एक साधारण मुद्दा बना देते हैं, एक ऐसा खिलौना जो बच्चे को मजा देने का साधन हो। शिक्षा पर कुछ गहन विचार करना है तो हमें अपने प्रश्न को बिना लाग लपेट के अनपेक्षित ढंग से उठाना होगा : क्या शिक्षा नफरत को बढ़ावा देती है और विवाद को लंबे समय तक बनाए रखती है? जब प्रश्न को इस ढंग से उठाते हैं तो हम शिक्षा को एक मामूली खिलौना मानने की निरर्थकता को देख पाते हैं। अगर हम भारत और पाकिस्तान में बच्चों के समाजीकरण में स्कूली पाठयचर्या और पाठ्यपुस्तकों की भूमिका का परीक्षण करते हैं तो इसकी यांत्रिकता बेहतर पकड़ में आती है। दोनों देशों में आधुनिक इतिहास के शिक्षण में इस्तेमाल की जा रही स्कूली पाठ्यपुस्तकों का तुलनात्मक अध्ययन करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि शिक्षा विवाद को सतत बनाती है और विद्वेष को पोषित करती है (कुमार, 2001)। इस अध्ययन से यह कहने के लिए बहुत ही ठोस प्रमाण मिले कि दो देशों के बीच पड़ौसवत नफरत बनाए रखने में शिक्षा ने भूमिका निभाई है।

शिक्षा एवं समाजीकरण

इस अंतर्दृष्टि का अवधारणात्मक साधनों एवं ध्यान से परीक्षण करने की जरूरत है अन्यथा हम वे मुख्य अनुग्रह खो बैठेंगे जो शिक्षा और शांति के संबंध का व्यापक सिद्धांत विकसित करने के लिए दो देशों के बीच विवाद की ऐसी केस स्टडी हमारे सामने रखते हैं। एक बात मेरे भारत-पाक अध्ययन (कुमार, 2001; कुमार, 2007) से स्पष्ट रूप में निकल कर आई कि एक विवाद निश्चित रूप से कायम रहता है और हिंसा के लिए उसकी संभावना बनी रहती है अगर उसके बीज जिंदगी की शुरुआत में ही जड़ पकड़ लें यानी प्राथमिक सामाजीकरण का हिस्सा बन जाएं। प्राथमिक समाजीकरण शब्द का संस्कृति के समाजशास्त्र के लिए विशिष्ट अवधारणात्मक महत्व है। शिक्षा के क्षेत्र में इसे बहुत ही सीमित और हल्के ढंग से लिया जाता है क्योंकि शिक्षा को ज्यादातर कर्म एवं नीति का क्षेत्र माना जाता है जबकि समाजशास्त्र को दूसरे समाज विज्ञानों के साथ परीक्षण का। इसलिए, शिक्षा में समाजीकरण का अध्ययन मुख्य रूप से बच्चे द्वारा घर से साथ ले आए जाने वाले प्रभावों को शैक्षणिक प्रयासों द्वारा समायोजित किए जाने के लिए किया जाता है।

जिस गहरे स्तर पर शुरुआती समाजीकरण स्व-अस्मिता, दृष्टिकोणों और मूल्यों को आकार देता है उसको शिक्षा के क्षेत्र में लोग अक्सर हल्के में लेते हैं जैसे कि शिक्षक तथा पाठ्यचर्या निर्माता। अगर हम शुरुआती समाजीकरण को स्व-अस्मिता और 'दूसरों' के प्रति रवैये के विकास का मुख्य कारक मानें तो हमारे पास यह कहने का एक मजबूत आधार होगा कि जब शिक्षा सामाजिक लोकाचार में पहले से मौजूद पूर्वाग्रह को ही बढ़ावा दे रही होती है तब राष्ट्रों के बीच मौजूद नफरत एवं विद्वेश खुद को बनाए रखने की शक्ति हासिल कर लेते हैं। स्कूल एवं पाठ्यचर्या की इस भूमिका को स्पष्ट करने के लिए हमें उन जटिल संबंधों का परीक्षण करना पड़ेगा जो आधुनिक समाज में संस्थागत तौर पर सीखने की किसी भी प्रक्रिया को आधार देते हैं यानि शिक्षा एवं समाजीकरण के बीच संबंध। समाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों, गणित एवं भाषा सहित किसी भी स्कूली विषय में जो सीखना मौजूद होता है उसके लिए ये संबंध महत्वपूर्ण होते हैं। स्कूली शिक्षा एवं घर पर हुए समाजीकरण के बीच का संबंध इतिहास में जो सीखना होता है उसे आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भारत एवं पाकिस्तान के बारे में विशिष्ट परीक्षण शुरू करने से पहले आइए एक संक्षिप्त चर्चा कर लें कि शांति के संदर्भ में स्कूल की भूमिका में इतिहास के बारे में सीखना महत्वपूर्ण कारक क्यों है?

प्राकृतिक दुनिया से भिन्न सामाजिक वातावरण को जानने के लिए बच्चे को सहयोग एवं प्रोत्साहन की जरूरत होती है। भौतिक वस्तुएं और घटनाएं जैसे कि अंधेरे आकाश में चांद का उगना या किसी रेलगाड़ी का गुजरना बच्चे को आकर्षित करती हैं और ध्यान चाहती हैं। इसके विपरीत बच्चे के मां-बाप की शादी से संबंधित जानकारी या बहुत समय पहले की घटनाएं बच्चे की चेतना का हिस्सा तभी बनती हैं जब कोई उस ओर ध्यान दिलाता है या किसी न किसी रूप में उनका वर्णन करता है। अतीत के बारे मे जानने के लिए बच्चे वयस्कों पर निर्भर होते हैं। जब तक बच्चे का नाम स्कूल में लिखा जाता है तब तक वह- वयस्कों से एवं आधुनिक घरों में मौजूद टेलीविजन जैसे संसाधनों से

अतीत के बारे में घर पर बहुत कुछ सीख चुका होता है। इतिहास पढ़ाना शुरू करने से पहले स्कूल को कई साल इंतजार करना होता है जबकि घर तो शैशव काल में ही शुरू हो जाता है और रोजमर्रा के घरेलू जीवन में निरंतर सिखाता रहता है।

घर में बच्चों के द्वारा अतीत के बारे में ज्ञान का समावेशीकरण खास वातावरण में होता है जिसमें चिंतनशील विचार, प्रश्न उठाने एवं वैकल्पिक कथानकों या स्पष्टीकरण की कोई गुंजाइश नहीं होती। वह काफी भावनात्मक अवयवों के साथ संपन्न होता है जो प्राथमिक समाजीकरण की विशिष्टता होती है (बर्जर एवं लकमन, 1966)। जरूरी नहीं है कि कथानक को समेकित कहानी में पिरोया जाए। बल्कि वह बिखरी हुई, आधी अधूरी-सी होती है जिसमें दृश्य, श्रव्य एवं अन्य संवेदी सामग्री बिखरी हुई होती है। नाम भर का ऐतिहासिक ज्ञान, जिसमें काफी कुछ कल्पित सा होता है, उसको धार्मिक विश्वासों और अपने से भिन्न अतीत वालों के प्रति 'दूसरे होने' के रवैये में पिरोया जाता है। इस नाम भर के अव्यवस्थित ऐतिहासिक ज्ञान में समुदाय का भाव पिरो दिया जाता है और इस भाव से बच्चे को अस्मिता प्रदत्त होती है। इससे उनके प्रति पृथकत्व पैदा हो जाता है जो अन्य समुदायों से होते हैं।

प्रायः हम बच्चों के धार्मिक अनुभव को इतिहास में उनके प्रवेश करने व डूबते चले जाने की तरह नहीं देखते हैं। हम ऐसा करने से कतराते हैं क्योंकि हमें इतिहास को एक ऐसे दस्तावेजी ज्ञान के क्षेत्र के रूप में देखने की आदत है जिसमें तथ्य और प्रमाण होते हैं। हम बोधात्मक इतिहास को अनदेखा कर कतराते हैं और उसकी आलोचना करके छोड़ देते हैं (कुमार, 2007) जिसको कई पीढ़ियों के अनुभवों की स्मृति ने पोषण दिया है व जीवित रखा है। धर्म में निहित इतिहास भी ऐसा ही है। वह समय की लंबी अवधि में फैला होता है और जिसमें आस्था-व्यवस्था के बनने से पहले का दौर, बढ़त और विकास का दौर शामिल होता है। इस आस्था-व्यवस्था में विश्वास, सामूहिक अस्मिताएं एवं संलग्नक विचार शामिल होते हैं। मिथकीय चरित्र एवं व्यक्तित्व इस आस्था-व्यवस्था का हिस्सा होते हैं। एक समुदाय को अस्मिता या पहचान देने में सामूहिक स्तर पर दर्ज स्मृति अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। समुदाय के बने रहने एवं बौद्धिक कल्याण के लिए यह इतना महत्वपूर्ण होता है कि इसे जल्द से जल्द नवजात शिशु को प्रदत्त कर दिया जाता है और यह प्रदत्त किया जाना पूरे बाल्यकाल में चलता है जिसकी छाप मानस पर गहरी होती है। छाप ऐसी कि प्रश्न या शंका की कोई गुंजाइश नहीं बचती। बचपन के उत्तरार्द्ध में स्कूल में पढ़ाए जाने वाले इतिहास के ज्ञान के लिए यह अच्छे से जुताई कर तैयार की गई जमीन की तरह काम करता है। यह प्रकिया जिसमें घर पर हुए प्राथमिक सामाजीकरण एवं स्कूल में हुए गौण सामाजीकरण का विलय हो जाता है वह सात दशकों से चली आ रही भारत-पाक दुर्भावना के मामले में खास चरितार्थ होती है। उसका विश्लेषण करके हम उन मुशकिलों और चुनौतियों की समझ बना सकते हैं जो दो देशों के बीच शांति की कोशिश के सामने शिक्षा प्रकट करती है। ◆

लेखक परिचय : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

संपर्क : anhsirk.kumar@gmail.com

गणित शिक्षण भाग-II

दस का दम (गिनने में)

रविकांत

हम जानते हैं कि आम तौर पर गिनती में दो ही चीजें शामिल होती हैं, संख्या का नाम और अंकों में लिखी संख्या। अगर हम गिनती को भी सिर्फ गिनने के मतलब के साथ सिखाना चाहें तो उसमें दो और चीजों को शामिल करने की जरूरत पड़ती है मात्रा तथा संख्याओं का आपसी संबंध। इन दोनों को मिलाने पर हमारे पास कुल चार चीजें हो जाती हैं। हम जानते हैं कि हिंदी में नौ से आगे की गिनती के नाम भी नए हैं यानी हर नई संख्या का नया नाम रखा जाता है। इसका मतलब यह है कि आगे की संख्याओं में 1 से 9 या 10 की तरह ही गिनना और गिनती के नए नाम सिखाने की भी जरूरत पड़ती है। यानी दस व उससे आगे की संख्याएं सिखाने में हमें संख्याओं के नए नाम लगातार सिखाने की जरूरत पड़ती है क्योंकि हर भाषा में संख्याओं के पहले से तयशुदा नाम होते हैं, जिन्हें उस भाषा वाले काम में लेते हैं।

अब यहां पर एक सवाल यह उठाया जा सकता है कि क्या 9 या 10 से आगे का गिनना उसी तरह से सिखाया जाना चाहिए जिस तरह से 10 तक गिनना सिखाया गया था। अगर हमें सिर्फ गिनना ही सिखाना होता तो इस बात पर ज्यादा सोच-विचार करने की जरूरत ही नहीं पड़ती। हम यहां पर भी एक से नौ तक की संख्याओं की तरह से गिनना सिखा सकते थे। लेकिन हम तो गिनने के साथ-साथ 20 तक की संख्याओं को पढ़ना-लिखना भी सिखाना चाहते हैं। इसी तरह अगर हम गिनती को अंकों में पढ़ना-लिखना रटवाना चाहते तो भी हमें गिनने के बारे में सोचने की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन अगर हम चाहते हैं कि बच्चे गिनना यानी मात्रा को तो समझें ही, और इसके साथ ही गिनने यानी मात्रा की समझ से जोड़ कर संख्याओं को अंकों में गढ़ने के तौर तरीके भी समझ पाएं, तो हमें गिनने के तौर तरीकों पर भी विचार करना पड़ेगा। क्योंकि हमें यह तो नहीं ही करना चाहिए कि गिनने के तौर तरीकों में संख्याओं को लिखने-पढ़ने के तौर तरीकों में आपस में कोई ताल्लुक ही न हो। इससे बच्चों के दिमाग में गिनने के तौर तरीकों व संख्याओं को लिखने-पढ़ने के बीच एक फांक रह जाएगी, जिसे कुछ बच्चे तो अपने आप भर लेंगे लेकिन कइयों को काफी देर तक इसे भरने में मुश्किल पेश आएगी।

गिनने पर बात करते वक्त हम यह भी देख चुके हैं कि 9 या 10 तक गिनना सिखाते वक्त समूह में गिनने की काबिलियत को भी शामिल करना काफी फायदेमंद रहता है। समूह में गिनने से चीजों को गिनने में और आगे चल कर बिना चीजों की मदद से, मन में गिनने में महारत हासिल करने में मदद मिलती है और हम तेज गति से गिन पाते हैं। लेकिन समूह में गिनने का सिर्फ इतना ही मतलब और यही उपयोगिता नहीं है।

समूह में गिनने की एक वजह यह भी है कि हम तेज गति से गिनना सीखने के साथ-साथ संख्याओं के आपसी संबंधों के बारे में भी समझ को गहरा कर पाते हैं। जैसे 8 को जब दो-दो के समूह में गिनते हैं तो यह भी

समझते हैं कि दो और दो, चार होते हैं, फिर चार और दो, छह होते हैं, इसी तरह छह और दो, आठ होते हैं। इस दौरान अलग-अलग संख्याओं के बीच आपसी संबंधों की समझ को गहरा होने का मौका मिलता रहता है। इस तरह से गिनना सिखाने की एक वजह यह समझ पैदा करना भी है कि चीजों को हर बार एक-एक करके गिनना जरूरी नहीं होता। उन्हें दो-दो या तीन-तीन आदि के समूह में भी गिना जा सकता है। समूह में गिनना शुरू करते ही संख्या के अंदर संख्या की अवधारणा का भी एक मतलब बनने लगता है, जैसे छह में तीन दो होते हैं। समूह में गिनने की इतनी मशक्कत करवाने की सबसे अहम वजह यह है कि नौ के बाद की सभी संख्याओं को अंकों में लिखने-पढ़ने की बुनियाद एक खास समूह पर रखी जाती है जिसे हम दस का समूह कहते हैं। आज के वक्त में पूरी दुनिया में इस्तेमाल की जाने वाली संख्या पद्धति इसी दस की बुनियाद पर टिकी है। आप इसे दस का दम भी कह सकते हैं। चूंकि 9 से आगे की संख्याओं के लिखने-पढ़ने की बुनियाद दस के दम पर ही टिकी है, इसलिए हमारे लिए यह जरूरी हो जाता है कि गिनने के साथ ही दस के दम की समझ पैदा की जाए। अलग-अलग आकार के समूहों में गिनना सिखाने के बाद दस के समूह में गिनना सिखाना थोड़ा आसान हो जाता है। पारंपरिक तौर पर गिनती सिखाते वक्त दस व उसके बाद की संख्याओं को मौखिक व लिखित तौर पर रटवा कर दस के दम की समझ बनाने के बजाय रटवा-रटवा कर दस का करीब-करीब पूरा दम ही निकाल दिया जाता है। रटवाने की सदियों पुरानी व गहरी जड़ें जमाई हुई परंपरा पर इस बात का भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि हमारी कुछ पाठ्यपुस्तकों में दस के दम को सिखाने के क्या तौर-तरीके अपनाए गए हैं।

यहां पर इस बात को समझने की जरूरत है कि यह दस का दम आखिर है क्या? असल में एक-एक करके चीजों को गिनना कुछ संख्याओं के बाद ही उबाऊ व लंबा काम साबित होने लगता है, जिसमें वक्त तो ज्यादा लगता ही है, मेहनत भी ज्यादा लगती है। संभवतः इसीलिए इंसानों ने 2-2, 3-3, 4-4, 5-5, 10-10 आदि के समूहों में गिनना शुरू किया होगा। दुनिया के अलग-अलग समाजों में अलग-अलग तरह की संख्या पद्धतियों को विकास हुआ। दस आधारी पद्धति के विकास की एक बड़ी वजह इंसानी हाथों की दस उंगलियां मानी जाती हैं। हम कल्पना कर सकते हैं कि अगर हमारे हाथों में बारह उंगलियां होतीं तो आज हम बारह आधारी संख्या पद्धति को काम में ले रहे होते। तो दुनिया के अलग-अलग समाजों में अलग-अलग तरह के समूहों में गिन कर व उनके लिए अंकों में लिखने की बहुविध पद्धतियां गढ़ते हुए आखिर में इंसानी समाज इस नतीजे पर पहुंचा कि गिनने व संख्याओं को अंकों में लिखने की सबसे असरदार पद्धति बनाने के लिए दस का समूह सबसे उपयुक्त है। इसीलिए आज के वक्त करीब-करीब पूरी दुनिया में दस आधारी संख्या पद्धति काम में ली जाती है।

दस चीजों या उससे ज्यादा चीजों को गिनते वक्त उनमें अपने आप दस का दम नहीं आ जाता। अगर हम सिर्फ एक-एक करके या खुली चीजें ही गिनते रहें तो वे दस के दम से महरूम ही रहती हैं। उनमें दस का दम पैदा करने के लिए दस चीजों का एक समूह बनाना पड़ता है। भले ही वह दस तीलियों का एक गट्ठर हो या दस मोतियों की एक माला हो या दस गुटकों का एक खंभा या डंडा हो। दस चीजों को बंडल में बांधते ही या मोतियों को एक माला में पिरोते ही या दस गुटकों को एक के साथ एक लगा कर एक खंभा बनाते ही उसमें दस का सिर्फ एक मतलब ही नहीं रहता, बल्कि वह दोपरती हो जाता है। जैसे वह दस तीलियों का एक बंडल भी होता है व उसमें दस तीलियां भी होती हैं, या उसमें दस मोती भी होते हैं और दस मोती की एक माला भी होती है, या दस गुटके भी होते हैं और दस गुटकों का एक खंभा भी होता है। दस के बंडल या समूह में दस चीजें तो होती ही हैं उसमें दस के मतलब की एक परत और चढ़ जाती है जिसका मतलब, दस चीजों का एक समूह भी होता है। खुली चीजों को किसी भी तरह से बांधते या पिरोते या आपस में फंसाते ही उनमें दस का दम आ जाता है।

यहां आपका ध्यान इस बात पर भी गया होगा कि जब हम 'दस' बोलते हैं तो उसमें अवधारणा की सिर्फ पहली परत होती है - दस की संख्या। लेकिन जब हम 'दस तीलियों का एक बंडल' बोलते हैं तो उसमें अवधारणा की दो परतें शामिल हो जाती हैं। पहली परत में दस तीलियां हैं और दूसरी परत में दस तीलियों का एक बंडल है। एक परती अवधारणा की समझ के लिए दस खुली बिखरी चीजें गिनना ही काफी है। लेकिन इसे दोपरती अवधारणा में तब्दील करने के लिए दस तीली को गिन कर उनका एक बंडल बना कर यह समझना बेहद जरूरी है कि दस तीलियों का एक बंडल बनता है और इसके साथ ही उस एक बंडल के अंदर अभी भी दस तीलियां होती है। अभी यह दस का दम गिनने को आसान बनाता है, आगे चल कर यह संख्याओं को लिखने के काम को एक तरह से आसान व दूसरी तरह से मुश्किल बना देगा। आसान इस तरह से कि दस व आगे की संख्याओं को लिखने वक्त नए अंक नहीं सीखने पड़ेंगे, पुराने अंकों से ही काम चल जाएगा और मुश्किल इस तरह से कि पुराने अंकों की मदद से नई संख्याओं को लिखने के कुछ नियम-कायदे सीखने पड़ेंगे।

1 से 30 तक की संख्याओं को गिनना सिखाने की यह सबसे बड़ी चुनौती है कि बच्चों को खुद के दिमाग में दस की अवधारणा को गढ़ने में किस तरह से मदद की जाए। इस अवधारणा का नाम रटवाना तो आसान है लेकिन किसी अवधारणा का नाम जानना व उसका मतलब समझना दो अलग-अलग बातें होती हैं। सिर्फ अवधारणाओं के नामों को रट लेने भर से वह अवधारणा अपने आप समझ में नहीं आ जाती। उसे समझने के लिए उसका मतलब निकालना पड़ता है। पारंपरिक तौर पर दस व इससे आगे की गिनती सिखाते वक्त कुछ इस तरह से सिखाया जाता है, जैसे

एक एक ग्यारह, एक दो बारह, ..., या

एक और एक ग्यारह, एक और दो बारह, ..., या

दस पे एक ग्यारह, दस पे दो बारह, ..., या

दस और एक ग्यारह, दस और दो बारह, ..., या

एक दहाई एक इकाई ग्यारह, एक दहाई दो इकाई बारह, ... आदि।

संख्या	मौखिक	अर्थ
11	एक और एक ग्यारह	1+1=2
12	एक और दो बारह	1+2=3

अब तक की गई बातचीत से आपको इन तरीकों की खामियों को पहचानने में मदद मिलेगी। पहले दोनों तरीकों को पढ़ते ही आपको अंदाज हो गया होगा कि ये दोनों तरीके अंकों में लिखी संख्या को रटवाने के लिए ईजाद किए गए हैं। हकीकत में तो एक और एक, दो या एक और दो, तीन होते हैं। साफ है रटवाने की सुविधा के नाम पर इसमें गणितीय अर्थ की तो बलि ही चढ़ा दी गई है। यह अवधारणा का गलत प्रस्तुकतीकरण भी है। इसमें पहले एक व दूसरे एक के मतलब में फर्क को मिटा दिया गया है। बच्चों को इससे यह समझने में मुश्किल होती है कि कौनसा एक दस के लिए बोला जा रहा है और कौनसा एक, एक के लिए। फिर इसमें यह समझाने का कोई तरीका भी काम में नहीं लिया जाता है कि ग्यारह के दोनों एक में या बारह के पहले एक और दूसरे दो में क्या फर्क है। इसलिए भी इस तरीके से सीखे कई बच्चे काफी वक्त तक यह नहीं समझ पाते कि 42 में 2 पहले लिखा जाएगा या 4 पहले लिखा जाएगा।

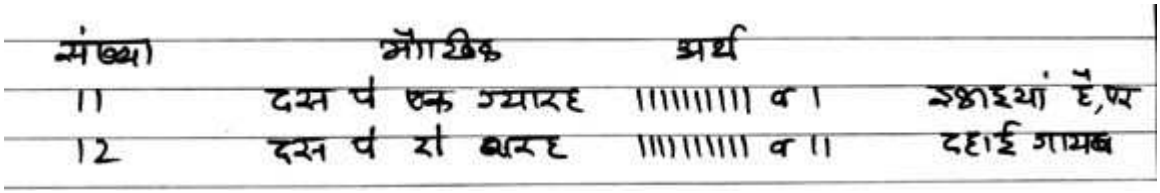

तीसरे व चौथे तरीके में संभवतः 'पे' तथा 'और' का मतलब एक ही है। यह काम अक्सर दो तरीकों से करवाया जाता है। पहला अंकों में लिखी संख्याओं, जैसे, 11, 12 आदि को पढ़वा कर और दूसरा अंकों में अलग-अलग लिखे 10+2 या 10 और 2 को पढ़वा कर। अकों में लिखी संख्याओं में तो दस अलग से नजर नहीं आता, तो यह माना जा सकता है कि ये संख्याओं के मतलब को समझाने के लिए गढ़े गए होंगे कि इसे सुन कर बच्चे, यह समझ जाएं कि बारह में दस और दो होते हैं। लेकिन ऐसा करते ही इसमें से दस का दम निकल जाता है। क्योंकि लिखित संख्या जैसे 12 में मौखिक दस अपने लिखित रूप 10 में दिखाई नहीं देता। वैसे भी 12 में दस, दस इकाइयां न हो कर दस इकाइयों का एक बंडल यानी एक दहाई है। दूसरे तरीके में दस व बाकी संख्याओं को अलग करने से 12 के मतलब की पहली परत तो बन जाती है कि दस व दो को मिलाने पर बारह बनते हैं, लेकिन दस के समूह कितने बने यानी दस की अवधारणा की दूसरी परत इसमें से गायब हो जाती है।

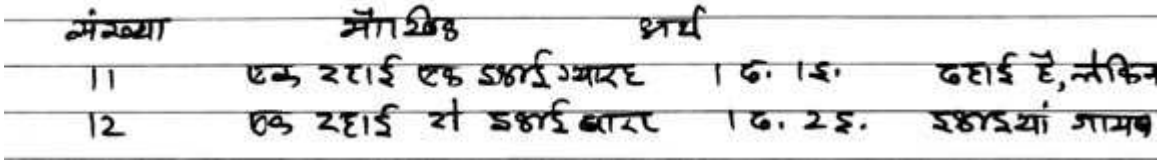

पांचवे तरीके में दस के दम का आधा हिस्सा यानी दूसरी परत मौजूद है। यानी एक दहाई है लेकिन उस दहाई में दस होते हैं, यह उसमें से गायब कर दिया गया है। इसकी एक मुश्किल यह भी है कि इकाई व दहाई, दोनों ही दस की दूसरी परत की अवधारणाएं हैं। याद करके देखिए, किसी भी संख्या का नाम दकाई या दहाई नहीं होता। संख्या का नाम अलग होता है और उसमें पाई जाने वाली इकाइयां व दहाइयां अलग होती हैं। यानी इसमें दस की पहली परत की अवधारणाएं गधे के सिर से सींग की तरह गायब कर दी गई हैं। जैसे, एक दहाई में दस इकाइयां होती हैं। या दस इकाइयों से मिल कर एक दहाई बनती है। इसमें अचानक दहाई व दकाई आसमान से टपक पड़ती है और यह पता नहीं चल पाता कि वे बनती कैसे है? भले ही अलग से कभी दस इकाई की एक दहाई बनाई गई हो लेकिन उसे यहां पर न जोड़ने से दोनों के बीच में एक फांक रह जाती है।

यहां पर शायद आपको यह बात खटकी हो कि दहाई तो माना दूसरी परत की अवधारणा है लेकिन इकाई कैसे दूसरी परत की अवधारणा हो गई। इसे समझने के लिए तीन चीजों को समझना जरूरी है। पहली बात, कोई भी संख्या हमेशा इकाइयों में ही होती है। जैसे, पंद्रह में पंद्रह एक होते हैं। इसे हम इस तरह भी कह सकते हैं कि हमारे पास एक-एक की पंद्रह इकाइयां हैं। अगर हम कहते हैं कि मेरे पास पंद्रह अंडे हैं तो इसका मतलब यह होता है कि मेरे पास एक-एक करके अंडों की पंद्रह इकाइयां है। इसी तरह पांच सौ सत्रह में भी उतनी ही इकाइयां होती है। असल में एक भी दो परती अवधारणा होती है। इसकी पहली परत में एक होता है और दूसरी परत में एक इकाई होती है। इसी तरह दस में भी पहली परत में दस इकाइयां होती हैं और दूसरी परत में दस इकाइयों की एक दहाई यानी दहाई की एक इकाई होती है। दहाई की परत को फिर भी हम दस का बंडल बांध कर दिखा देते हैं लेकिन एक पर चढ़ी इकाई की परत को इस तरह से नहीं दिखा सकते। हम सिर्फ किसी एक चीज को इकाई का नाम दे देते हैं।

आप थोड़ा-सा भी सोचें तो यह अंदाजा लगा पाएंगे कि ये सभी तरीके दरअसल गिनना सिखाने के लिए बनाए ही नहीं गए हैं। ये तो चार्ट पर लिखी गिनती को रटना आसान करने के लिए बनाए गए थे। इनसे गिनने की समझ पैदा होने का वहम होता रहता है क्योंकि इसमें दस, एक, दहाई, इकाई आदि शब्दों का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन अवधारणा के नामों यानी शब्दों को रट लेने भर से कोई अवधारणा अपने आप समझ नहीं आ जाती। इसीलिए बच्चों की समझ में दस का दम पैदा कर पाना कभी भी इनके बस में था ही नहीं। हां, ये बच्चों के लिए काफी देर तक दस का दम निकालने में जरूर कामयाब रहते हैं।

अब तक आपके मन में यह सवाल उठ ही चुका होगा कि फिर गिनना सिखाने के साथ-साथ दस का दम कैसे पैदा किया जाए और उसके साथ ही साथ आपके मन में दस का दम पैदा करने का थोड़ा बहुत खाका बन भी चुका होगा। अगर हमारे दिमाग में दस के दम को पैदा करने की जरूरत साफ हो जाए तो इसे करना बेहद ही आसान सा काम है। इसके कदम कुछ इस तरह से हो सकते हैं -

पहला, किसी खास मात्रा में चीजों को गिनिए, जैसे ग्यारह, पंद्रह आदि।

दूसरा, उन चीजों में दस का एक बंडल, माला या खंभा बनाइए।

तीसरा, चुनी हुई संख्या में से दस के बंडल/माला/खंभे की संख्या गिनिए और खुली चीजों की संख्या गिनिए।

अंत में यह सवाल पूछिए कि पंद्रह में कुल तीली कितनी, दस के बंडल कितने व खुली तीली कितनी?

एक बार संख्याओं में दस का दम पैदा करना आ जाए तब उसके बाद सीधे ही दस के दम की मदद से संख्याएं बनवाई जानी चाहिए। यानी दस के एक बंडल और चार तीलियों से कौनसी संख्या बनेगी। इस सरल-सी प्रक्रिया से आपको दस का दम पैदा करना और उसकी मदद से संख्याओं को बनाना भी आ जाएगा। ◆

लेखक परिचयः करीब 23 वर्षों से प्रारंभिक शिक्षा में शिक्षक शिक्षा, शिक्षण सामग्री एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण, शिक्षाक्रम और अनुवाद के क्षेत्र में कार्य। हाल-फिलहाल विभिन्न संस्थाओं के साथ बतौर शैक्षिक सलाहकार कार्यरत हैं।

संपर्क : 9414057424; ravikaant@gmail.com

राजनीतिक समाजीकरण और बच्चे

(आमचुनाव-2019 के विशेष संदर्भ में)

ऋषभ कुमार मिश्र

पिछले तीन-चार महीनों* से देश में आम चुनाव की सरगर्मी थी। इस सरगर्मी में सभी राजनीतिक दल, मीडिया और चुनाव में रुचि रखने वाली संस्थाएं मतदाताओं के चुनावी व्यवहार का आकलन कर रहे थे। हर वयस्क अपने-अपने ढंग से लोकतंत्र के इस पर्व के बारे में राय दे रहा था। यह चुनावी माहौल एक ओर देश की आनेवाली सरकार के लिए दिशा तय कर रहा था वहीं यह भी बताना महत्वपूर्ण है कि इनके द्वारा हमारे देश की भावी पीढ़ी का राजनीतिक समाजीकरण हो रहा था। इस दौरान विचारधारात्मक बहसें, राजनीतिक सूचनाओं की उपलब्धता, चुनावी संप्रेषण की अधिकता, परिवार और समुदाय की राजनीतिक सक्रियता और चुनाव प्रचार आदि द्वारा बच्चे और किशोर अपनी राजनीतिक समझ और अभिवृत्ति को ढाल रहे थे। एक ओर तो बच्चों को स्कूलों में सरकार, लोकतंत्र, चुनाव और कानून का संवैधानिक पाठ पढ़ाया जाता है तो दूसरी ओर बच्चे अपने रोजमर्रा के जीवन में इनके एक अलग रूप को देख रहे थे। यह रूप न तो कृत्रिम था और न ही ऐसा जो केवल वयस्कों के लिए हो और जिससे बच्चों को दूर रखने का कोई औपचारिक निर्देश हो। इस रूप में देश की राजनीति, राजनेता, लोकतंत्र की प्रक्रिया आदि से संबंधित संदेशों का संप्रेषण हो रहा था। एक तरह से ये चुनाव बच्चों में राजनीतिक समझ के संप्रेषक थे जो इनमें राजनीतिक दृष्टि और सूझ-बूझ को विकसित कर रहे थे। इसे ही समझने के लिए मैंने 10 से 16 वर्ष के विद्यार्थियों के साथ 8 केन्द्रित समूह चर्चा की। ये विद्यार्थी महाराष्ट्र के वर्धा जिले के रहने वाले थे। हालांकि ये इस चुनाव में मतदाता नहीं थे लेकिन अगले आमचुनाव में इनमें से अधिकांश मतदाता बन चुके होंगे। ये सभी ग्रामीण और कस्बाई पृष्ठभूमि के विद्यार्थी थे। इनमें से अधिकांश सरकारी विद्यालयों के छात्र थे। कुछ समूह में कम फीस वाले निजी विद्यालयों के विद्यार्थी भी शामिल थे। ये चर्चाएं वर्धा में मतदान के पूर्व अवकाश के दिनों में की गई। इसके लिए खेल के मैदान और अन्य सामुदायिक स्थानों को चुना गया। प्रत्येक समूह चर्चा लगभग 40 से 50 मिनट की रही। हर समूह चर्चा की ऑडियो रिकॉर्डिंग की गई। इसके आधार पर प्राप्त प्रमुख प्रवृत्तियों की इस लेख में चर्चा की गई है।

चुनावः प्रक्रिया, प्रत्याशी और अन्य प्रवृत्तियां

समूह चर्चा के भागीदारों के विचार बताते हैं कि वे लोकसभा चुनावों को 'सरकार' को चुनने की प्रक्रिया मानते हैं। इस प्रक्रिया को वे संसदीय लोकतंत्र की शब्दावली- खासदार (सांसद), पंतप्रधान (प्रधानमंत्री) के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। वे भारत की संसदीय राजनीति को दलीय राजनीति के रूप में देख रहे हैं। उनके अनुसार इस बार का चुनाव दो मुख्य राजनीतिक दलों और गठबंधनों के बीच है। खासकर इसे वे दो

* अप्रैल, 2019 से मई, 2019 तक आम चुनाव का समय रहा है।

नेताओं नरेन्द्र मोदी और राहुल गांधी के बीच के 'युद्ध' के रूप में रेखांकित करते हैं। आश्चर्य है कि लोकतंत्र की स्वाभाविक प्रक्रिया के लिए ये बच्चे इतना घोर या चरम विशेषण 'युद्ध' क्यों उपयोग कर रहे है? इसका कारण उनके परिवेश में इसी विशेषण के साथ चुनाव की प्रस्तुति है। इस स्थिति में चुनाव की प्रस्तुति संसदीय लोकतंत्र में स्वतंत्र मत के प्रयोग के बदले भेड़चाल की ओर ले जाती है जहां मतदान औचित्य के आधार पर न होकर मताधंता के आधार पर होता है। इस दशा में ध्रुवीकरण को बल मिलता है। इसका प्रभाव बच्चों में भी दिखा। यद्यपि इन बच्चों ने किसी विचारधारा विशेष का नाम नहीं लिया लेकिन वे लोकप्रिय नारों 'न्याय', 'आएगा तो मोदी ही' 'मां शीश नहीं झुकने देगें' का उल्लेख कर विचारधारात्मक झुकाव की ओर संकेत कर रहे थे। कई बार वे किसी पार्टी विशेष या नेता विशेष के पक्ष में राय जाहिर करते लेकिन उनके पास अपने चुनाव के लिए तर्कों का अभाव था। अक्सर वे भावोद्रेक में अपने विचार व्यक्त करते जहां दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह अधिक रहता था। हर समूह की चर्चा में पाकिस्तान को मुंहतोड़ जवाब देना, वंशवाद, हिंदू धर्म, नोटबंदी, बेरोजगारी जैसे लोकप्रिय सवाल-जवाब आए ही। यहां रेखांकित करना आवश्यक है कि विद्यार्थियों के विचार एक नागरिक के विवेक का परिचय न होकर दल विशेष के अनुयायियों के रूप में अधिक थे। उन्हें 'सूचनात्मक ज्ञान' तो था लेकिन वे इसके आधार पर निर्णय न लेकर चुनावी माहौल के न दिखने वाले दबाव में अपनी राय जाहिर कर रहे थे। वयस्कों के संदर्भ में इसे दलीय प्रतिबद्धता कहा जा सकता है लेकिन बच्चों और किशोरों के संदर्भ में एमलर और फ्रेजर (1999) इसे 'वयस्क व्यवहार का अनुकरण' मानते हैं जिसके प्रभाव में व्यक्ति स्वतंत्र निर्णय नहीं ले पाता है। इसी तरह कुछ विद्वान (सीअर्स और वैलिंटीनो, 1997) इसे अभिभावकों के राजनीतिक विश्वासों की पुनरावृत्ति भी मानते हैं। इस अर्थ में यह प्रवृत्ति खतरनाक है कि यह व्यक्ति के खुद से फैसला लेने के बदले किसी के लिए फैसले की पुनरावृत्ति को बल देती है।

इन विद्यार्थियों के साथ हुई चर्चा से पता चलता है कि वे चुनाव को लोकतंत्र से जोड़कर देखते हैं। उनके लिए यह व्यक्ति का अधिकार है जिससे वह अपनी सरकार चुनता है। इस समझ के साथ उनका यह जोड़ना महत्वपूर्ण है कि 'उन्हें (नेताओं को) गांव वालों से कोई लेना-देना नहीं, चुनाव जीतना है और चले जाना है'। इस तरह की राय बताती है कि उनके लिए स्थानीय प्रत्याशी किसी कुतुहल या जिज्ञासा का विषय नहीं है बल्कि वे 'केन्द्र' के नेता को ध्यान में रख रहे हैं। लोकसभा का चुनाव होने के कारण यह प्रवृत्ति आम है। लेकिन इस तरह की प्रवृत्ति लोकतांत्रिक मूल्यों के आधार पर सत्ता के विकेन्द्रीकरण की अवधारणा से मेल नहीं खाती है। इसी कारण बच्चों के लिए स्थानीय प्रत्याशी के साथ स्थानीय मुद्दे भी गौण हैं। उदाहरण के लिए वर्धा के दूरदरागज गांव में रहने वाला किशोर इस आधार पर किसी दल-विशेष की सराहना या आलोचना करता है कि उसने नागपुर महानगर में क्या किया। वह इस बात पर बल नहीं देता कि उसके गांव या समुदाय की प्रमुख समस्याएं क्या हैं? जिन्हें वह अपने स्थानीय प्रतिनिधि के सामने रखना चाहता है। इस तरह की स्थिति में उसके लिए वह किताबी ज्ञान भी किसी काम का नहीं है जहां कोई नागरिक अपने क्षेत्र विशेष की समस्याओं का समाधान करने की प्राथमिकता के आधार पर प्रत्याशी का चयन करता है।

राजनीतिक समाजीकरण के ताने-बाने में पूर्वधारणाएं

चुनावी राजनीति में प्रयोग किए जाने वाले भेद-भाव के संकेतकों से भी विद्यार्थी भली भांति परिचित थे। बच्चों ने बताया कि प्रत्याशी का चयन पैसे, जाति, धर्म और अधिवास के आधार पर होता है। साथ ही वे ये जोड़ना नहीं भूले कि इन आधारों पर प्रत्याशी चुनने से 'जीत की उम्मीद बढ़ जाती है' क्योंकि 'हर जाति चाहती है उसका आदमी जीते'। सभी समूहों ने कहा कि स्थानीय नेता के पढ़े-लिखे होने का कोई खास फर्क नहीं पड़ता क्योंकि 'वोट मुख्य नेता या बड़े नेता के नाम पर 'गिरता है' चुनाव किसी को लड़ा दो।' इन विचारों से भी स्पष्ट है कि राजनीतिक समाजीकरण के ताने-बाने में पूर्वधारणाएं अधिक सक्रिय हैं। जाति और धर्म के जो विभेदक चुनाव में हमारे मत को प्रभावित कर रहे हैं निश्चित रूप से ये हमारी अन्य गतिविधियों को भी उतना ही प्रभावित करेगें। ये पूर्वधारणाएं 'नागरिकता की

शिक्षा' के लिए भी बाधक हैं। क्या हममें से कोई यह चाहता है कि भावी पीढ़ी अपने-पराए के भेद को कायम रखने वाली हो? सहभागी बच्चों के अनुसार चुनावी सभाओं से जनता का मन नहीं बदलता। इसका फायदा केवल इतना होता है कि जो इनमें जाता है उसे पैसे मिल जाते हैं। ये विचार प्रमाण हैं कि कहीं न कहीं मत निर्माण की प्रक्रिया में शक्ति का केन्द्रीकरण, अस्मितामूलक आधार जैसे- जाति, धर्म, और पैसों का लालच मुख्य भूमिका निभा रहे हैं। ये कारक विवेक को परिष्कृत करने और वृहत्तर हित को देखने की दृष्टि को सीमित करते हैं। यदि भावी पीढ़ी भी इसी दिशा में आगे बढ़ेगी तो वैचारिक संकीर्णता बढ़ती जाएगी जो किसी भी दृष्टि से समाज और राज्य के लिए हितकर नहीं होगी। इसी का प्रभाव है कि भागीदार विद्यार्थी कह रहे हैं कि- 'अपने को तो राजनीति पसंद नहीं है'। इस तरह के विचार शिक्षा में काम कर रहे लोगों के लिए चिंताजनक हैं। लोकतांत्रिक राज्य की व्यवस्था तो चुनाव से चलती है और चुनाव और राजनीति को नापसंद करने वाली भावी पीढ़ी कैसे नागरिक अधिकारों को क्रियान्वित करेगी यह विचारणीय है। इस संदर्भ में बर्टी (2005) का विचार उल्लेखनीय है जिनके अनुसार हम बच्चों को राजनीति का 'ज्ञान' देकर लोकतंत्र को सुरक्षित नहीं रख सकते हैं हमें विचार करना होगा कि कैसे सत्ता और राजनीति में सार्थक बदलाव के लिए व्यक्ति अभिप्रेरित हो। कैसे वे इसके लिए स्वयं आगे आएं? कैसे वे पूर्वग्रह और राजनीतिक धारणाओं का सामना करें? इसके अभाव में वे इन पूर्वग्रह और धारणाओं को ही स्वीकृत व्यवहार मान लेते हैं। इसी कारण उनके लिए जाति के आधार पर मतदान, वादे पूरे न करना, सभा के लिए पैसे बांटना, प्रत्याशी चुनने में स्वच्छ छवि का ध्यान न रखना जैसी प्रवृत्तियां राजनीति का हिस्सा बन चुकी है।

नेताओं की छवियां

इस चर्चा के भागीदार बच्चों के विचारों से नेताओं की छवियों के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। नेताओं को वे दो वर्गों में रखते हैं। प्रथम, बड़े नेता, जिनमें वे मुख्यतः राष्ट्रीय नेताओं जैसे- नरेन्द्र मोदी, राहुल गांधी, सोनिया गांधी, नितिन गडकरी आदि के नाम गिनाते हैं। इन नेताओं के प्रति वे अपनी पसंद और नापसंद व्यक्त करते हैं लेकिन उनके लिए किसी खास प्रवृत्ति जैसे- जनता की उपेक्षा, काम न करना आदि का सामान्यीकरण नहीं करते हैं। वे इनके व्यक्तिगत गुणों की सराहना करते हैं। यहां यह भी रेखांकित करना आवश्यक है कि बच्चे इन नेताओं के लिए मीडिया द्वारा प्रयुक्त किए जा रहे मुहावरों का उल्लेख करते हैं। दूसरे, स्थानीय नेता, जो लोकसभा, विधानसभा, स्थानीय पंचायतों आदि के प्रतिनिधि हैं या चुनाव लड़ रहे हैं। ये बच्चे स्थानीय नेताओं को उनकी संपत्ति, गाड़ियों, घरों की संख्या, समर्थकों की भीड़ आदि के सापेक्ष देखते हैं। वे अपने स्थानीय नेताओं के बड़े उद्योगों व महाविद्यालयों आदि का उल्लेख करते हैं। नेता के लिए संपत्ति की अपरिहार्यता के बारे में एक बच्चे का यह बयान देखने लायक है कि 'नेता बनने के लिए पैसे की जरूरत होती है क्योंकि 'साथ रहने वालों में बांटना होता है', 'रैली करनी होती है' आदि। इसी क्रम में नेताओं के धन के स्रोत के बारे में वे बताते हैं कि नेताओं के पास कालाधन होता है। यह कालाधन जनता का होता है। कालाधन की परिभाषा करते हुए बच्चों ने बताया कि 'जो धन दिखता नहीं है' जिसे नेता घर में छुपाकर रखते हैं। यह भी उल्लेखनीय रहा कि नेताओं के बारे में बच्चे मानते हैं कि वे महानगरों में रहते हैं। वे कभी-कभी गांव आते हैं। ये बातें प्रमाण हैं कि सत्ता का प्रतीक पूंजी और आम आदमी से दूरी बनती जा रही है। नेता और प्रकारांतर से सरकार ऐसी संस्था के रूप में मान्य नहीं है जो आम नागरिक के लिए कार्य करे। इन सामाजिक प्रस्तुतियों और स्वीकृतियों के प्रति बच्चों के मन में कोई उलझन या द्वंद्व नहीं है। वे इसे एक चलन मान चुके है। यदि उक्त विद्रूपता सच्चाई है, चलन है तो इसके विकल्प पर बातचीत या संवाद का न होना इससे बड़ी समस्या है। न तो स्कूल और न ही परिवार इस तरह के मुद्दों पर किसी वैकल्पिक दृष्टि से बच्चों को परिचित करा रहे हैं। वे भी यथासंभव इन कठोर प्रश्नों पर मौन हैं। जैसाकि भागीदार बच्चों ने बताया कि उनके घरों में यह चर्चा होती है कि किसे मत दिया जाए पर यह चर्चा नहीं होती कि जिसे दिया जा रहा है उसे क्यों दिया जाए। बच्चों ने यह भी बताया कि उनके स्कूलों में चुनाव के बारे में चर्चा न के बराबर है। चर्चा उसी सीमा तक है जिस सीमा तक पाठ्यपुस्तकें इसके लिए अवकाश

देती हैं। व्हाइट, ब्रुस और रिची (2000) ने इस तरह की प्रवृत्ति को बच्चों में राजनीति के प्रति उदासीनता का प्रमुख कारण माना है। इन्होंने भी अपने अध्ययन में पाया कि नेताओं की अविश्वसनीय छवियां राजनीतिक समाजीकरण में राजनीति के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति पैदा करती हैं। इसका परिचय प्रस्तुत अध्ययन के भागीदारों में भी देख सकते हैं। नेताओं की विश्वसनीयता का ह्रास यहीं नहीं थमता। बच्चों ने दलबदलू नेताओं की लंबी लिस्ट भी साझा की और कहा कि 'हर नेता मजबूत पार्टी में चला जाता है।' उनके लिए पार्टी की मजबूती की कसौटी जनकल्याण या उसके कार्यों का मूल्यांकन न होकर एक भिन्न कसौटी है। इस कसौटी के बारे में अलग-अलग समूहों ने बताया कि 'मजबूत पार्टी वह पार्टी होती है जिसका नेता मजबूत होता है। जो सत्ता में होती है। जिसके पास पैसा होता है। इन्हीं कारणों से मजबूत पार्टी जीतती है।' ऐसी स्थिति में स्पष्ट होता है कि बच्चों के लिए राजनीति महत्व का मुद्दा है लेकिन वे इसके महत्व को सत्ता, नियंत्रण और प्रभाव के रूप में देख रहे हैं। विचारणीय है कि ऐसी समझ के साथ बड़े हो रहे भावी नागरिक 'सत्ता' और 'लोकतंत्र' के अंतर को कैसे कायम रखेगें? कैसे वे संसदीय लोकतंत्र में हर नागरिक के मूल्य व अधिकार की परिकल्पना करेगें?

इन्हें मालूम है कि 'देश का भविष्य चुनाव से तय होता है' लेकिन संसदीय लोकतंत्र में उनकी आस्था कम होती जा रही है। हालत यह है कि कुछ विद्यार्थियों ने कहा कि जहां चुनाव की चर्चा होती है वे वहां से हट जाते हैं। कुछ ने कहा इसीलिए हम घर देर से जाते हैं कि हमें चर्चा सुननी न पड़े। अपनी अरुचि के बारे में बच्चों ने कहा कि 'जब सब चोर हैं तो किसे वोट करें।' 'ज्यादातर नेता बुरे हैं, उनमें से जो कम बुरा है उसे चुनेंगे। चुनावी प्रक्रिया की इस तरह की यथार्थवादी समझ हमारे लिए चिंताजनक है। हम केवल मतदान के प्रतिशत के कम होने या अधिक होने से संतुष्ट नहीं हो सकते। बच्चों के ये विचार संकेत हैं कि आगे आने वाले दसेक सालों में हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती संसदीय लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को कायम रखने की होगी। यह किसी एक की जिम्मेदारी नहीं है। न ही इस प्रतिष्ठा के लोप के लिए कोई एक जिम्मेदार है। सहभागी बच्चों के अनुसार चुनावी सभाओं से जनता का मन नहीं बदलता। इसका फायदा केवल इतना होता है कि जो इनमें जाता है उसे पैसे मिल जाते हैं। ये विचार प्रमाण हैं कि कहीं न कहीं मत निर्माण की प्रक्रिया में शक्ति का केन्द्रीकरण, अस्मितामूलक आधार जैसे- जाति, धर्म, और पैसों का लालच मुख्य भूमिका निभा रहे हैं। ये कारक विवेक को परिष्कृत करने और वृहत्तर हित को देखने की दृष्टि को सीमित करते हैं। यदि भावी पीढ़ी भी इसी दिशा में आगे बढ़ेगी तो वैचारिक संकीर्णता बढ़ती जाएगी जो किसी भी दृष्टि से समाज, अर्थव्यवस्था और राज्य के लिए हितकर नहीं होगी।

मीडिया : राजनीतिक समाजीकरण का सर्वाधिक प्रबल माध्यम

यह कार्य बताता है कि राजनीतिक समाजीकरण को लेकर परिवार, समुदाय और स्कूल की तुलना में मीडिया का प्रभाव सर्वाधिक है। परिवार के संदर्भ में देखा जाए तो भागीदारों ने साझा किया कि उनके परिवारों में राजनीतिक पार्टी की पसंद या नापसंद और चुनाव में किसके पक्ष में मत किया जाए? जैसे मुद्दों पर आपस में और बच्चों से न के बराबर चर्चा होती है। यह भी पाया कि परिवार का मुखिया- ज्यादातर मामलों में पिता या दादाजी- ही परिवार के सभी वयस्क सदस्यों को निर्देशित करते हैं कि किसके लिए वोट किया जाए। बच्चों ने यह भी बताया कि उनके अभिभावक भी राजनेताओं और राजनीतिक दलों से ज्यादा उम्मीद नहीं रखते हैं। परिवार के वयस्कों की यह राजनीतिक उदासीनता बच्चों तक स्थानान्तरित हो रही है। यह प्रवृत्ति राजनीतिक भागीदारी के लिए प्रेरित नागरिकों को तैयार नहीं करती है। इस स्थिति में शासक-शासित संबंध कायम रहते हैं और अनुकरण के आधार पर मतदान जैसे नागरिक दायित्व राजनीतिक निर्णय में तब्दील होते हैं। इसी का प्रभाव दबाव के आधार पर होने वाले मतदान में देख सकते हैं। इस चर्चा में शामिल कुछ भागीदारों ने बताया कि जनसंपर्क के दौरान स्थानीय नेताओं द्वारा पारिवारिक संबंधों खासकर जाति के दबाव के आधार पर मतदान के लिए बाध्य किया जाता है। हर समूह ने बताया कि उनके स्कूल में चुनाव

पर, मतदान के लिए प्रत्याशी चयन पर कोई चर्चा नहीं होती है। यह एक निराशाजनक स्थिति है जबकि स्कूल को तो ऐसी संस्था माना जाता है जहां सोद्देश्य रूप से नागरिकों की तैयारी की जाती है। स्कूलों का दायित्व केवल जानकारी देना नहीं है उन्हें बच्चों को यह भी समझाना होगा कि वे कैसे राजनीतिक निर्णय लें? स्कूल की यह भूमिका सोशल मीडिया के बढ़ते प्रभाव में और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। इस चर्चा में यह भी पाया गया कि चुनाव, प्रत्याशी, दलों की नीतियों की जानकारी के लिए भागीदारों का मुख्य स्रोत सोशल मीडिया बनते जा रहे हैं। इसके माध्यम से पार्टी, नेता और चुनाव की छवियां तैयार हो रही हैं। दोस्तों के समूह में इन्हीं सूचनाओं पर चर्चा होती है। सोशल मीडिया पर प्रसारित सूचनाएं और सम-समूह में चर्चा भागीदारों के अभिमत और विचार निर्माण का मुख्य स्रोत बन चुकी हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि राजनीतिक दलों से संबंधित सामाजिक समूहों की ऑनलाइन सदस्यता के द्वारा भी वे राजनीतिक दलों से जुड़ रहे हैं। वे प्रोपेगैंडा, अफवाहों या विश्वसनीय और वैध सूचनाओं के फर्क से अपरिचित हैं। हर समूह ने प्रत्याशी, जाति, विचारधारा और धर्म से संबंधित अफवाहों को साझा किया। स्पष्ट है कि इन बच्चों और किशोरों को 'सूचनाओं के ढेर' से डील करना सिखाना होगा। यह विवेक देना होगा कि बिना सूचना की वैधता और विश्वसनीयता जांचे उसके आधार पर निर्णय न लें। इवॉन (2015) ने राजनीतिक संस्कृति के पोषण में मीडिया की इस भूमिका का आकलन करते हुए कहा है कि मीडिया द्वारा प्रचारित सूचनाओं के आधार पर निर्णय लेते समय निर्णय लेने वाले को लगता है कि यह निर्णय वह खुद कर रहा है जबकि वास्तविकता यह होती है कि उसके माध्यम से मीडिया के मत को ही स्वीकृति मिल जाती है। हमें ऐसी 'नागरिक शिक्षा' देनी होगी जहां मीडिया के प्रभाव में निर्णय न हो बल्कि उसके प्रभाव का विश्लेषण और मूल्यांकन करने की क्षमता विकसित हो।

निष्कर्ष और निहितार्थ

बच्चों के साथ की गयी केन्द्रित समूह चर्चा स्पष्ट प्रमाण है कि राजनीतिक समाजीकरण केवल संसदीय लोकतंत्र से संबंधित तथ्यात्मक सूचनाओं का मसला नहीं है। न ही यह व्यक्तिगत उपलब्धि और गुणों से संबंधित है बल्कि समुदाय में, मीडिया में वृहत्तर परिवेश की राजनीतिक घटनाओं और प्रक्रियाओं से व्यक्ति, खुद का संबंध कैसा देखता है? इस दृष्टि का विकास है। इसे एक उदाहरण की मदद से समझ सकते हैं। सरकार का कार्यकाल, सरकार बनने की प्रक्रियाएं, सांसद की योग्यता और दायित्व, नागरिक के अधिकार और कर्तव्य आदि की जानकारी किताबों में दी गई है। इनके बारे में कक्षा में पढ़ाया भी जाता है लेकिन किन मुद्दों के साथ चुनाव हो रहे हैं? किन कसौटियों के सापेक्ष प्रत्याशियों का मूल्यांकन किया जा रहा है। मूल्यांकन करने वाले की जागरूकता का स्तर क्या है? ये पक्ष भी राजनीतिक समाजीकरण को प्रभावित करते हैं। अब हमारे लिए केवल यह जानना पर्याप्त नहीं है कि उन्हें कितनी तथ्यात्मक जानकारी है बल्कि इसके आधार पर या इसके बिना वे व्यवस्था के प्रति क्या अभिमत रखते हैं? उससे खुद के संबंध को कैसे परिभाषित करते हैं? मीडिया उनके अभिमत को कैसे प्रभावित कर रहा है? जैसे प्रश्नों पर विचार करना होगा। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि तथ्यात्मक जानकारी जैसे-सांसद का नाम, सदस्यों की संख्या आदि के आधार पर राजनीतिक ज्ञान का आकलन हो सकता है लेकिन राजनीति या चुनावी व्यवहार और निर्णय इससे स्वतंत्र है। शिक्षण का यह भी एक पक्ष है कि इस स्वतंत्र निर्णय में 'आलोचनात्मक विवेक' के प्रयोग के लिए विद्यार्थियों को तैयार किया जाए। उदाहरण के लिए इस चर्चा के प्रतिभागियों में देशभक्ति की परिभाषाओं और संवैधानिक प्रतिबद्धता के बीच विरोधाभास देखने को मिला। बच्चों और युवाओं के लिए देश की सुरक्षा और देशभक्ति का आशय शत्रु देश से मुकाबला था जबकि अवसरों की समानता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, भेद-भाव का अंत जैसे मुद्दों पर वे मौन थे। वे राष्ट्रीय नेताओं के प्रति इतने आग्रही थे कि स्थानीय मुद्दों को संज्ञान में नहीं ले पा रहे थे। ऐसा नहीं है कि यह कोई गलत प्रवृत्ति है पर यह तो सचेत करना ही होगा कि देश-काल विशेष में किस तरह के मूल्यों, मुद्दों और अपेक्षाओं को राजनीति द्वारा साकार करना चाहते हैं? उसके लिए हमारे निर्णय कैसे स्थानीय और राष्ट्रीय संदर्भ में संतुलित हों? कैसे हम निर्णयों के दूरगामी प्रभावों का आकलन करें। इसके लिए वे क्या जानते हैं? से संतुष्ट नहीं होना

है। वे कैसे निर्णय लेते हैं? उनके निर्णय को प्रभावित करने वाले कारक कौन से हैं? वे किन स्रोतों, कारकों और माध्यमों के आधार पर निर्णय लें? जैसे प्रश्नों पर विचार करना होगा। हमें उनके औपचारिक अनुभवों में स्वयंसेवा, समुदाय को समझना, सामुदायिक सहभागिता जैसे कार्यों में सहभागिता को बढ़ाना होगा तभी वे एक परिपक्व राजनीतिक समझ वाले नागरिक बन पाएंगें। इन्हें मानवाधिकार, पर्यावरण, सांस्कृतिक विविधता आदि के प्रति जागरूक करने के साथ राजनीतिक और लोकतांत्रिक प्रतिरोध का प्रशिक्षण भी देना होगा। जिस तरह से गणित और विज्ञान जैसे विषयों में तर्क, समस्या समाधान, ज्ञान के अनुप्रयोग और प्रभावशाली अभिव्यक्ति का उपयोग करते हैं वैसे ही राजनीतिक भागीदारी जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे पर भी विचार करना होगा। अन्यथा इस बहुलतावादी लोकतांत्रिक देश में भावी पीढ़ी का राजनीति के प्रति उपेक्षा भाव इस देश की आत्मा और अस्मिता को कमजोर ही करेगा।

आभार : लेखक आंकड़ों के संकलन और ट्रांसक्रिप्शन में सहयोग के लिए श्री संदीप कुमार (जे.पी.एफ., इरिक शोध परियोजना, म.गां.अं.वि. का आभारी है।)। ◆

लेखक परिचय : सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

संपर्क : 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

संदर्भ :

- Berti, A.E. (2005). Children's Understanding of Politics. In M. Barrett and E.B, Barrow (eds.). *Children's Understanding of Society*, pp. 69-103.
- Emler, N. and Frazer, E. (1999). Politics: The Education Effect. *Oxford Review of Education*, 25 (2). pp. 251-273.
- Iovan, M. (2015). The Political Culture: Political Socialization and Acculturation, *Journal of Legal Studies*, 16(29), 26-47.
- Sears, D.O. and Valention, N.A. (1997). Political events as catalysts for preadult socialization, *The American Political Science Review*, 91(1), pp. 45-65.
- White, C., Bruce, S. and Ritchie, J. (2000). *Young people's politics: Political interest and enagagement amongst 14-24 year olds.* London: York Publishing Service.

ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में 'जगह' की निर्मिति

कुछ प्रस्थान बिन्दु

शचीन्द्र आर्य

प्रवेश

यहां हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि 'जगह' आखिर होती क्या है? यह कैसे बनती है? इसे कौन बनाता है? हम शिक्षा के दृष्टिकोण से भी इसे टटोलने की कोशिश करेंगे कि विद्यालय में पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं और उसके बाहर की दुनिया में रहने वाले किशोर और किशोरियों के लिए यह 'जगह' किस तरह उभरती है। क्या वह ऐसी कोशिश खुद भी कर रहे हैं और वह इसमें सक्रिय रूप से साझेदार हैं या अनजाने में ही वह इसका सृजन करने में लगे हुए हैं या कहीं ऐसा तो नहीं, समाज उन्हें जिन स्थानों को उपलब्ध करवा रहा है, उनसे वह संतुष्ट हैं? एक अर्थ में यहां केन्द्रीय प्रश्न है, इस 'जगह' या 'स्थान' के बनने की प्रक्रिया क्या है? क्या हम उसे चिह्नित कर सकते हैं? हम यह देखना चाहते हैं, अगर वहां कहीं कोई ऐसी अन्तर्क्रिया हो रही है, तो वह किस तरह घटित हो रही है।

यह लेख मेरे शोध कार्य का हिस्सा है, जहां आप एक शोधार्थी की हैसियत से एक ग्रामीण विद्यालय की कक्षा ग्यारह में रोज बैठते हैं। अवसर मिलने पर उन छात्र-छात्राओं से बातचीत करते और कभी उनसे किसी विषय पर कुछ लिखने को कहते हैं। अर्ध-अवकाश या अनौपचारिक बैठकों में वहां अध्यापन करने वाले अध्यापकों से कुछ वार्तालाप होता रहता है। इस आलेख में हम यह देखने की कोशिश करेंगे, गांव के उस विद्यालय में इतना अरसा बिताने के बाद 'जगह' का सवाल मेरे भीतर किस तरह आकार लेता रहा और जो घटित होता दिखा, उसने मेरी समझ को किस तरह निर्मित किया।

यह बात मेरे मन में तब घर कर गई, जब कक्षा ग्यारह की छात्रा अपनी सहेलियों से बात करते हुए इस बात को स्वीकार करती है कि वह जितनी जोर से यहां, इस कक्षा में हंस सकती है, अगर वह अपने घर पर इतनी जोर से हंसेगी तो उसकी अम्मा और पिताजी उसे डांट देंगे। यहां जो 'हंसना' है और जो 'डर' है, दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। उसने हंसने के लिए 'जगह' चुन ली है। इसी में उसके लिए न हंसने वाली जगह की निर्मिति भी समाहित है। उसका अपना घर, जहां वह न हंसना स्वीकार कर लेती है। थोड़ी देर विचार करके देखिये, उसने यह निर्णय कब लिया होगा कि घर वह जगह नहीं है, जहां वह हंस सकती है और उसके लिए घर की चारदीवारी के बीच बनने वाली जगह कैसी है, जहां वह हंसने से पहले कितनी बार सोचती होगी?

यहीं से हम अपने प्रश्न पर दोबारा लौटते हैं, यह 'जगह' आखिर है क्या? इसे समझने और जानने के लिए यहां उन घटनाओं, प्रसंगों और प्रकरणों की सहायता ली जाएगी जो या तो कक्षा में अवलोकन या बातचीत के दौरान मेरे समक्ष आए या विद्यालय के बाहर जिनका मैं स्वयं प्रत्यक्षदर्शी रहा। एक अर्थ में इसे आप मेरी सीमा भी मान सकते हैं।

प्रकरण 1 : विद्यालय के भीतर

एक रोज की बात है, जब कक्षा में हो रही चर्चा में उनसे जानना चाह रहा था कि गांव में लड़का और लड़की यदि मिलना चाहें तो वह कहां मिल सकते हैं? यह प्रश्न अपनी प्रकृति में बहुत निजी है। इसे सामने बैठे छात्रों से कैसे पूछूं यही उधेड़बुन मेरे मन में बहुत देर से चल रही थी। मुझे कक्षा में बैठते हुए लगभग दो महीने से ज्यादा वक्त हो चुका था। यह दिन भाई दूज के तुरंत बाद का था और सारी लड़कियां मनचिंता का व्रत करने के लिए घर पर रुक गई थीं।

उन्हें मालुम था, मैं लिखता हूं और उनकी कक्षा में 'हंस' पत्रिका के अक्टूबर अंक की प्रति उन्हें दिखा चुका था, जिसमें मेरी डायरी के कुछ हिस्से छपे थे। इसी प्रसंग को आधार बनाकर, बातचीत को किसी तरह आगे बढ़ाने की गरज से मैंने बहाना बनाया और कहा, 'मैं एक कहानी पर काम कर रहा हूं, जिसमें किसी गांव के लड़का और लड़की मिलना चाहते हैं, पर कहां मिलें, यह मुझे समझ नहीं आ रहा है? अब तुम सब तो गांव में रहते हो, अगर तुम मुझे बताओगे, तो मेरी कहानी कुछ आगे बढ़ सकेगी। व्रत की वजह से कोई छात्रा कक्षा में उपस्थित नहीं थी। उनकी अनुपस्थिति में भी छात्रों में एक संकोच था। वह कुछ भी कहने में झिझक रहे थे। कोई कुछ कहने को तैयार ही नहीं था।

क्या वह मेरे इस झूठ को पकड़ नहीं सके होंगे, कह नहीं सकता। वह मुझ पर विश्वास कर यह बता सकते हैं, यह सोचते-भालते एक लड़का, जिसकी शादी हो चुकी थी, बताने लगा, वह कातिक पुनमासी (कार्तिक पूर्णिमा) के नहान मेले में लखरांव (भिंगा से पहले एक जगह) जा रहा है। वहां उसकी पत्नी अपनी भाभी के साथ आने वाली है। गऊना (गौना) नहीं हुआ है इसलिए वह मिलने का यह तरीका निकालते हैं। थोड़ी देर साथ रहेंगे। साथ झूला झूलेंगे। टिक्की और पानी बतासा खाएंगे। मन हुआ तो वहां आए हुए फोटो स्टूडिओ में अगल-बगल खड़े होकर हाथ में हाथ पकड़ कर तस्वीर खिंचवाएंगे और उसकी बनी एक कॉपी लड़का अपने साथ ले आएगा।

ग्रामीण जीवन में मेले या ऐसे ही धार्मिक अवसर अधिकांश तौर पर इसी तरह व्याप्त हैं। कोई अपनी लड़की दिखाना चाहता है लेकिन शुरुआती दौर में रिश्तेदारी या गांव में बताना नहीं चाहता, तब ऐसे किसी अवसर या मंदिरों या शक्तिपीठों पर लगने वाले साप्ताहिक हाट बाजारों की भीड़ के बीच एक कोना चुन कर दोनों पक्ष आपस में विवाह संबंधी जो बातें करना चाहते हैं, वह कर लिया करते हैं। यह बहुत सामान्य-सी बात है। उतना ही सामान्य यह भी है कि विद्यालय से लड़के आधी छुट्टी लेकर अपने मित्रों के साथ गुधरिया बाबा (मंदिर) चले जाते हैं, जहां पहले से तय समय पर लड़की वाले मौजूद हैं और वह उसे बिना बताए देख सकते हैं। यह एक तरह की गोपनीयता का सृजन भी करता है, जहां लड़का और लड़की आपस में कभी जान ही नहीं पाते कि उनके लिए लड़की या लड़का को देखा जा रहा है।

इस चर्चा में बहुत से धार्मिक स्थलों का जिक्र आया परंतु जो विवाहित नहीं हैं, वे कैसे और कहां मिलते हैं, इस पर छात्र बिलकुल मौन धारण किए हुए थे। कोई इस पर कुछ नहीं बोला। इस न बोलने को मुझे किस तरह लेना चाहिए था?

लेकिन यह चर्चा उसी दिन समाप्त हो गई हो, ऐसा नहीं है। यह किसी न किसी रूप में बहुत दिनों तक हमारी बातचीत में बनी रही और एक दोपहर अर्ध-अवकाश में एक छात्र मुझे फोन पर बात करता देख, पास आया। उस छात्र ने तब जो बात कही वह हुबहू यहां लिखे दे रहा हूं। वह बोला, आप सर जी! उस दिन जो बात कह रहे थे, उसमें हम कुछ बोलना चाहते हैं। मैंने कहा, बोलो। उसने बताया, एक दिन दोपहर में अपने एक मुसलमान दोस्त को मोटर साइकिल पर बैठाकर अपनी जाति की विवाहिता लड़की से मिलवाने अस्पताल के पीछे ले गया था। इतना कहकर वह चुप हो गया। उसने आगे कुछ नहीं कहा। मैं अभी भी उसके ऐसे व्यवहार को किसी सैद्धांतिकी से समझने की कोशिश कर रहा हूं।

कभी-कभी सोचता हूं, उसने ऐसा क्यों किया? वह छात्र किन मूल्यों से संचालित हो रहा होगा? क्या मित्रता ही उसके लिए सबसे बड़ा मूल्य है? क्या उसे बिलकुल अहसास नहीं है, इस तरह के काम में कितना खतरा है? क्या उसे नहीं पता, उसी राज्य के नव निर्वाचित मुख्यमंत्री ने 'रोमियो दस्ते' गठित किए हैं। उनकी राजनीतिक समझ में एक मुसलमान लड़के का एक हिन्दू लड़की से मिलना मुसलमानों के जिहाद का हिस्सा है। एक विवाहिता स्त्री से अपने मित्र को मिलवाने के लिए ले जाते वक्त वह इस संस्था के बंधनों को नहीं जानता होगा। वह हिम्मती है, इसमें कोई दो राय नहीं है। लेकिन जब गांव के लोगों को पता चलेगा, तब क्या होगा। जिसे वह सिर्फ मिलवाना सोच रहा है, उसके पूर्व निर्धारित अर्थ कितने आत्महंता हैं, इसका आभास उसे नहीं है। फिर भी मुझे लगता है, इन सब खतरों और स्थापित मूल्यों के बावजूद इस प्रकरण में जगह का 'सृजन' हो रहा था। भले यह जगह भौतिक रूप से किसी आड़ के पीछे कुछ देर के लिए बनी थी।

घटना 1 : बैंगन के खेत वाला लड़का

आप शहर में किसी मंदिर, गुरद्वारे, बगीचे, किसी मेट्रो स्टेशन, किसी बाजार की कल्पना कर सकते हैं। गांव में लड़का लड़की के लिए यह जगह कहां और कौनसी होगी, यह कोई नहीं जानता। गांव के चारों तरफ खाली जमीन है, जो खेत हैं। एक बहाने से लड़के किसी खाली मैदान में क्रिकेट खेलने के लिए जा सकते हैं लेकिन लड़कियां कैसे जाएंगी? अगर वह जा भी रही हैं, तब उनका क्या प्रयोजन है, यही सबसे बड़ा सवाल बनकर उनके सामने आएगा? आप क्या सोचते हैं, कोई लड़की गांव के बाहर खेतों की तरफ चली जा रही है और कोई उसे देख भी नहीं रहा होगा? इतने दिन वहां रह कर इसकी संभावना बहुत कम और अपवाद स्वरूप लगी। ऐसा अवसर कभी आएगा ही नहीं कि कोई उन्हें देख न रहा हो।

आप नीचे वर्णित प्रसंग में देखेंगे, जब लड़का और लड़की वक्त और जगह दोनों तय कर लेते हैं, तब भी मिल नहीं पाते। एक लड़का है जो किसी तरह पास के गांव की एक लड़की को उसकी भाभी के फोन नंबर पर फोन करता है और तड़के लड़की को बैंगन के खेत में उससे मिलने के लिए बुलाता है। वह कैसे आएगी, यह दोनों को नहीं पता।

लड़का चार बजे सुबह लड़की के घर के पास, बैंगन के खेत में छिप कर बैठा है और लड़की के दिये नंबर पर लगातार फोन कर रहा है। घर में किसी का फोन इतनी सुबह बजना बहुत असामान्य सी बात है। इतनी बार कोशिश करने पर एक मर्तबा किसी ने फोन उठा लिया। लड़का हड़बड़ी में दूसरी तरफ से आवाज सुने बगैर कहता है, हम भाटा के खेत में बइठे हन... (मैं बैंगन के खेत में बैठा हूं...)। इतना कहकर वह तुरंत फोन काट देता है। घंटी बजने पर फोन लड़की ने नहीं उसके पिता ने उठाया था। वह मामले की गंभीरता को देखते हुए घर के अन्य सदस्यों को नींद से जगाते हैं।

लड़का बाहर ठंड में, खुले आसमान के नीचे, खेत में लड़की का इंतजार कर रहा है। दरवाजे पर हलचल देख कर वह टॉर्च की रौशनी चालू करता और तुरंत बंद कर देता है। जिस तरफ से रौशनी आ रही थी, तीन-चार लोग लठियां लिए बहुत तेजी के साथ घर से निकल कर उस खेत में आते हैं और लड़के को धर दबोचते हैं। लड़के की खूब पिटाई होती है। पुलिस थाने तक खबर हो जाती है। लड़का लाख पूछने पर भी नहीं बताता, वह वहां क्यों आया था। चोर मान कर उसे पुलिस के हवाले कर दिया जाता हैं। लड़के के पिता पुलिस को पैसा देकर हवालात से उसे छुड़वाते हैं।

इस घटना के बाद बदनामी दोनों, लड़का और लड़की, की समान रूप से हो रही है। वह लड़की जहां पढ़ती है, सब जान गए, लड़का उसी से मिलने आया था। इस प्रकरण के बाद एक दिन अचानक रास्ते में शोधार्थी की उस लड़के से मुलाकात हुई, वह पहले से मुझे जानता है। वह बोला, भईया, अब यहां नहीं रहेंगे। नाम बहुत खराब हो गया। अब यहां से चले जाएंगे। हमारी बुआ बाहर रहती हैं। वहां चले जाएंगे या फिर बहराइच में किसी कारखाने पर काम कर लेंगे पर यहां नहीं रहेंगे। तब तुम्हारी पढ़ाई का क्या होगा? हां भईया! इंटर किसी तरह कर लेंगे, फिर देखा जाएगा। पढ़ाई में अब मन नहीं लगता हमारा। यहां ध्यान देने वाली बात यह भी है, मेरी तरफ से ऐसा कोई इशारा नहीं किया

गया था कि मैं उसकी पिटाई और थाने से छुड़वाने वाली घटना को जानता हूं। फिर भी वह मुझसे पहली बार मिला और उसने बात वहीं से शुरू की। पूरी बातचीत में वह केवल अपनी भविष्य की योजना इस तरह से बता रहा था, जैसे मुझसे पहले भी वह कई व्यक्तियों को यही जानकारी दे चुका है और इसमें वह अभ्यस्त हो चुका है।

आप क्या सोच रहे हैं? जब लड़का और लड़की में आपसी सहमति है, वह दोनों मिलना चाहते हैं। दोनों तय करते हैं, तब क्यों उन्हें मिलने नहीं दिया जा रहा? आप इस तरह भी विचार कर सकते हैं, कि दोनों अपने माता-पिता से इस विषय पर चर्चा करते और तब दोनों को मिलने दिया जा सकता था? ऐसे परिवार आपके आस पास कितने हैं, यह आप भी जानते हैं। मुझे आगे कुछ भी बताने की आवश्यकता नहीं है। इस घटना के बाद जो लोग तरह-तरह की बातें बना रहे हैं, उनके उद्देश्यों की एक सूची बना लेने के बाद शायद यह प्रकट रूप से हमारे सामने आ सकता है कि वह किन मूल्यों और कैसे समाज को संरक्षित करना चाहते हैं। यह अगली घटना में और स्पष्ट रूप से हमारे सामने आएगा।

घटना 2 : सोलह फरवरी, दोपहर का वक्त

जहां स्थापित और मान्य मूल्यों पर जीवन का सारा कार्य व्यापार टिका है, उसमें कोई व्यक्ति ऐसे दिन की कल्पना नहीं कर पाएगा कि उनसे अलग समाजों में फरवरी की चौदह तारीख एक ऐसा दिन होता है, जिसमें लड़का-लड़की आपस में प्यार का इजहार करते हैं, जिसे 'वेलेंटाइन डे' या 'प्रेम दिवस' कहा जाता है। जहां विवाह अपनी-अपनी जातियों और धर्म के दायरे में होते आए हैं, वहां ऐसे दिनों की किसी को कोई जरूरत नहीं है। इसमें गांव भी कोई अपवाद नहीं है।

खुद जिस कक्षा में रोज बैठा करता था, वहां के छात्रों को 'वेलेंटाइन सप्ताह' के दिन रटे हुए थे। आज 'प्रपोस डे' है, कल 'किस डे' है। कक्षा के भीतर वह एक ऐसे दायरे में है, जहां किसी बाहरी व्यक्ति को इसकी भनक तक नहीं है। जब यह दिन आपके 'भीतर' से निकलकर 'बाहर' प्रकट होता है, तब आपको विकट स्थितियों का सामना करना पड़ सकता है। ऐसा इसलिए भी कह पा रहा हूं क्योंकि एक ऐसी घटना बिलकुल मेरी आंखों के सामने घटित हुई। चौदह फरवरी को बीते दो दिन हो चुके थे। आज सोलह फरवरी थी। दोपहर का वक्त था। मंदिर के आस-पास एकदम सन्नाटा था। पहले मुझे एक लड़का दिखा और कुछ ही देर बाद एक लड़की उसके पास से रोते हुए अपने घर की तरफ जाती हुई नजर आई।

वह क्यों रोती हुई वहां से गई, यह भेद कुछ देर बाद खुला, जब उस लड़की के चाचा उस लड़के पर अपनी भतीजी को छेड़ने के आरोप में पीटते हुए लड़के को कुएं के पास ले आए। लड़के की कमीज एक तरफ से फट चुकी थी। नीचे की बानियान साफ दिख रही थी। लड़की सिर झुकाए वहीं पास खड़ी रोए जा रही थी। लड़का इतना पिट चुका था कि उसके होंठ फट चुके थे, खून बह रहा था। उसे पीटने वाले लड़की के चाचा ने भीड़ इकट्ठा होने पर उस लड़के की पिटाई को जायज ठहराया। वह चिल्ला चिल्लाकर कहने लगे, 'इस लड़के ने हमारी बिटिया को 'आई लव यू' कहा और कहा तुम भी हमें बोल दो तो हम तुम्हें यह घड़ी दे देंगे; हमारी लड़की किसी लड़के से घड़ी क्यों लेगी? कह रहा है, तुम्हारे लिए ही लाया हूं। बेलेंटाइन डे का गिफ्ट'। उन दोनों (पीटने और पिटने वाले) की आवाज सुनकर भीड़ इकट्ठा हो चुकी थी।

चीखने चिल्लाने की आवाजें लड़के के घर तक भी पहुंची और उस तरफ से उसके पिता और बड़े भाई आ गए। पहले तो उन्होंने तैश में आकर दो-तीन तमाचे अपने बेटे और छोटे भाई के गाल पर मार दिये। लेकिन थोड़ी ही देर बाद उन्हें अपने बामन और उनके यादव होने की बात याद आई और याद आई कोई पुरानी दुश्मनी। अब वह मानने को ही तैयार नहीं थे कि उनके लड़के ने लड़की के साथ ऐसी-वैसी कोई हरकत की है। वह अड़ गए और उल्टे उनके लड़के को पीटने वाले लड़की के चाचा को कहने लगे, अगर ऐसी कोई बात थी तो तुम्हें पहले हमें बताना चाहिए था, हमारे लड़के को पीट-पीट कर अधमरा करने की क्या जरूरत थी? अब झगड़ा दूसरी तरफ रुख लेने लगा था। लड़का भी

अपना पायजामा नीचे कर अपना जननांग दिखाने लगा, जहां शायद इतना पीटे जाने से सूजन आ गई थी। अब सबका ध्यान लड़के की पिटाई की तरफ चला गया। लड़की को छेड़ने की बात कहीं पीछे जाने लगी। सब कहने लगे, इतनी बेरहमी से उसे नहीं पीटा जाना चाहिए था। मारा तो मारा, लेकिन वहां क्यों मारा? अभी तो लड़के की शादी भी नहीं हुई है।

थोड़ी देर के बाद दोनों तरफ से कुछ नए तर्क न आते देख भीड़ का उत्साह जाता रहा। वह तितर-बितर हो गई और दोनों पक्ष दूर से ही एक-दूसरे पर चिल्लाकर अपना गुस्सा निकालने में अपनी ऊर्जा व्यय करने लगे।

आपके सामने सारी घटना का आंखों देखा हाल है। आपको क्या लगता है, लड़के की पिटाई क्यों हुई? क्या लड़के और लड़की के बीच अपरिचय की वजह से यह नौबत आई? अगर वह दोनों एक-दूसरे को जानते भी थे, तब भी क्या गांव वह 'जगह' हो सकती है, जहां कोई नया मूल्य यकायक अपनी वैधता पा सकता है? क्यों लड़की उस प्रस्ताव को सुनकर रोने लगी होगी? अगर हम थोड़ा और धैर्य रखें, तब हमारे अनुत्तरित प्रश्नों की सूची और भी लंबी हो सकती है। लेकिन यहां कौनसी ऐसी मूलभूत बात है, जिसकी वजह से यह घटना इस तरह आकार लेने लगी? शायद आप इसका उत्तर जानते हैं। थोड़ा अपने भीतर रुकेंगे तो उसे चिह्नित भी कर पाएंगे।

चलिये थोड़ी मदद किए देते हैं। बस आप बता दीजिये, आप 'जगह' को किस रूप में देखते हैं? जगह मतलब कोई भी जगह या स्थान। हम जानते हैं, किसी भी जगह या खाली स्थान की निर्मिति इस समाज में या किसी भी समाज में उससे निरपेक्ष होकर नहीं रह सकती। आप किसी भी ऐसी जगह की कल्पना करके देखिये, क्या कोई ऐसी जगह है, जहां केवल आप हैं? क्या आपने उसे अपने लिए निर्मित किया है? आप क्या एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जो उसका उपयोग कर रहे हैं? इन प्रश्नों के उत्तर जरूरी नहीं सबके लिए एक रेखीय हों। वह बहुस्तरीय और अनेकों परतों वाले हो सकते हैं।

आपका लिंग, समय, एकांत, भीड़ सब अलग-अलग स्थितियों और भय को भिन्न-भिन्न स्तरों पर निर्मित करेगा और आप उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। यह एक स्तर पर आपकी पहचान का सवाल भी है और उन जगहों के उपयोगकर्ताओं के रूप में आप किन स्वतंत्रताओं को अर्जित कर सकते हैं, यह भी पहले से तय है। आप यह भी जानते हैं, जो इन कायदों के बाहर जाएगा, उसके साथ क्या हो सकता है। यह घटना तो बहुत-सी घटनाओं में केवल एक घटना है।

घटना 3 : चिट वाले लड़के

इतनी सारी बातों के बाद भी कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूं, ऐसा नहीं है। अभी दोबारा ऊपर से गुजरते हुए लग रहा था, मेरे पास घटनाएं बहुत हैं। जो सैद्धांतिकी उसे खोल सकती है, उसकी भी थोड़ी बहुत समझ है, लेकिन कभी-कभी, अलग-अलग घटनाएं एक साथ रखने से भी तस्वीर साफ होकर दिखने लगती है। मैं यहां यही कर रहा हूं। जो ग्रामीण अंचल में हो रहा है, उसे अपने साथ यहां लेता आया हूं। मेरे पास वह कौन से अनुभव हैं, यही तो मुझे बताना है। मैंने दिल्ली में बतौर अतिथि शिक्षक लगभग दो साल हिन्दी अध्यापक के रूप में अध्यापन किया है। जिस घटना का जिक्र आगे करने जा रहा हूं, उसके सूत्र उस अध्यापकीय जीवन से जा मिलेंगे, कभी सोचा भी नहीं था।

उस शाम बहराइच से घर लौटने में थोड़ी देर हो गई। संदीप पालेसर पर थोड़ा व्यस्त था, नहीं तो उसे ही आसाम चौराहे तक बुला लेता। टैम्पो उधर सामने खड़ा था। उसमें जाकर बैठ गया। आज बैठते हुए मुझे बहुत अजीब लगा। अजीब यह कि तीन मोटर साइकिल उस अकेले टैम्पो को घेरे खड़ी थी। टैम्पो का चालक समझ तो रहा था, मामला क्या है पर सवारी में पुरुषों के नाम पर दो लोग और थे और हमारी संख्या उन मोटर साइकिल वालों से कम थी, इसलिए वह कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था। जब हम थोड़े बढ़े और टैम्पो भर गया, तब थोड़ी हिम्मत दिखाकर उसने मोटरसाइकिल वाले लड़कों से कहा, काहे दिमाग लगाए हो? उसके ऐसा कहने पर दो मोटर साइकिल वाले पीछे मुड़

गए और एक को वह समझाने लगा। यह ठीक बात नहीं है। क्या ठीक बात नहीं है? वह दो लड़के बोले। पर्ची पर लिखकर नंबर टैम्पो में कौन फेंका?

दिल्ली में अध्यापन के दिनों में जब साल में एक बार विद्यालय के सभी विद्यार्थी स्थानीय भ्रमण के लिए जाते थे, तब यहां भी लड़के अपना मोबाइल नंबर कई-कई पर्चियों पर लिख कर साथ ले जाया करते थे। जहां कहीं लड़कियों के विद्यालय की बसें दिखती, वह खिड़की के अंदर ढेर के ढेर पर्चियां फेंक दिया करते। कुछ किसी ऐतिहासिक स्मारक के प्रवेश द्वार पर लड़कियों के सामने पर्चियां फेंका करते। उन्हें आशा थी कि किसी न किसी दिन कोई लड़की उनके नंबर पर फोन जरूर करेगी। फोन करेगी। फोन पर बात होगी। कभी हुआ तो कभी-कभार कहीं मिल-विल आया करेंगे।

यह एक सभ्यता के भीतर संवादहीनता का प्रश्न है या नहीं, मुझे नहीं पता पर बिलकुल उसी तर्ज पर चन्दरखा गांव की बैठी उन दो लड़कियों के लिए उन लड़कों ने कागज की पर्ची पर नंबर लिखा और वह टैम्पो में फेंककर चले गए। उन्हें क्या आशा रही होगी? कभी उन पर्चियों को उठाने वाली लड़कियां उनसे बात करेंगी? टैम्पो में बैठे एक पुरुष को यह हरकत पता चली, तब उसने कहा, बाजार के लड़के हैं। इन्होंने कभी गांव की मार नहीं खाई है। आने दो चौराहे पर, कमर सीधी कर देंगे। समझते क्या हैं यह हमारी लड़कियों को। यह उस पुरुष के शब्द थे जबकि वह आज से पहले उन दोनों किशोर लड़कियों से मिला तक नहीं था लेकिन ऐसी स्थिति में 'मदद' करना, उसने अपना फर्ज समझा।

कोई अपरिचित पुरुष पहली बार मिलने पर भी खुद को उन अकेली जा रही लड़कियों की मदद के लिए क्यों तैयार हो गया, इसको समझाने के लिए बहुत काम हुआ है। लड़कियों को किसी का संरक्षण चाहिए, यह उनके अकेलेपन में अंतर्निहित है। लेकिन आप बस इस बात पर ध्यान दीजिये, यहां कोई उन लड़कियों से क्यों नहीं पूछ रहा कि इसमें उन लड़कियों की क्या राय है? क्या उन लड़कियों ने उन लड़कों की फेंकी चिटों को उठाया था? अगर वह उन पर्चियों को उठा लेतीं, तब क्या कभी उन लड़कों से बात करने का उनका मन नहीं होता? यह जो दूसरा पक्ष अनुपस्थित है, यही इस पूरे प्रकरण में एक अधूरी समझ को पुष्ट करता है। मैं चाह कर भी उनसे यह सवाल वहां नहीं कर सकता था।

प्रकरण 2 : बाहर की खाली जगह

गांव जैसी संरचना में 'दिख जाना' भी बहुत असामान्य घटना है। आप सोच भी नहीं सकते, यह किस तरह मेरे सामने प्रकट हुआ होगा। तुलसीपुर चौराहे पर गणेश पूजा का यह तीसरा साल था और उस रात जगराता था। सब रात भर जागने वाले थे। पूजा समिति की तरफ से आज झांकी निकलने वाली है। आस-पास के गांव के लोग छोटे-छोटे समूहों में आ रहे थे। लड़कों के अपने गुट थे और सयानी लड़कियां अपनी माताओं और घर वालों के साथ आ रही थीं। लड़के पास आकर नमस्ते कर रहे थे और बराबर पूछ रहे थे, मैं यहां कहां रहता हूं? थोड़ी बहुत बातचीत के बाद अगले दिन समय पर विद्यालय पहुंचने की गरज से जल्दी सोने के लिए बीच में ही लौट आया। अगला दिन हुआ और कक्षा में पहुंचने पर एक छात्रा बोली, सर जी! हमने आपको कल पूजा में देखा था। आप भी वहां खड़े थे। मेरे लिए यह बहुत ही आश्चर्य कर देने वाली घटना थी, ऐसा क्यों हुआ? वह अपनी माता के साथ होने पर भी एक दूरी पर बनी रही।

इस प्रकरण के एक सिरे पर मैं हूं, जो एक अध्यापक की हैसियत से किसी दिल्ली जैसे शहर से उनकी कक्षा में रोज हर घंटी में बैठा रहता है, उनसे बात करता है, वह सब मौका लगते ही मुझसे सवाल-जवाब करते हैं। उसी विद्यालय का 'मैं' जब किसी सार्वजनिक जगह पर दिख भी जाता हूं, तब विद्यालय का परिचय 'अपरिचय' में तब्दील हो जाता है। 'लड़के' जो वहां विद्यालय के 'छात्र' की हैसियत से मिले, भले वह उस कक्षा के विद्यार्थी नहीं थे, लेकिन वह मिले। ऐसा क्यों हुआ कोई छात्रा, जो तब अपने परिवार वालों के साथ थी, आपको देखकर भी कोई संवाद नहीं करती है। परंतु आपको अगले दिन सूचित करती है कि उस पूजा में आप भी उसे दिखाई दिये थे।

हो सकता है, इसके कई अर्थ और ध्वनियां भी हों, पर अभी मैं यहीं तक पहुंच पा रहा हूं। ऐसा नहीं है वह अकेली छात्रा थी, जो अपनी माता के साथ थी इसलिए कोई बात करने में संकोच कर रही होगी। बहुत सी छात्राएं बाहर अकेले दिखने पर भी किसी 'अपरिचित' की तरह ही बनी रहती थीं। जब मैं इस परिचय और अपरिचय वाली शब्दावली में अपनी बात कह रहा हूं, मुझे इमानुअल कांट बार-बार याद आ रहे हैं, जहां वह कहते हैं कि 'ऐसा नहीं है, कि आप हर जगह एक जैसी बात कर सकें। आपको चर्चा करने के लिए अपने जैसे लोगों की आवश्यकता पड़ती है और आप मिलकर ऐसे स्थान की रचना करते हैं, जहां आप बिना किसी भय या दबाव के अपनी बात को रख सकें और उस पर गंभीर विचार कर सकें'।

मुझे लगता है, उस छात्रा और ऐसी कई छात्राओं के लिए 'विद्यालय' वह 'स्थान' होगा, जहां वह बिना किसी पारिवारिक दबाव के अपने हिस्से की बात कह सकती है। उन्हें वहां कोई भय या डर नहीं है। वह वहां किसी की सतत निगरानी में नहीं है। वह वहां 'लड़की' होते हुए भी 'विद्यार्थी' या 'छात्रा' की भूमिका में है। वह छात्रा है और वहां छात्रों को छोड़कर हर पुरुष 'अध्यापक' की भूमिका में है, जिनसे वह बेरोकटोक किसी विषय पर बातचीत करने के लिए स्वतंत्र है। सबसे जरूरी यह स्वतंत्रता है। किसी से भी मिलने, बात करने में सबसे प्राथमिक कारक।

जगह : विद्यालय

आप सोच रहे होंगे, इन संदर्भों का कोई सूत्र क्यों नहीं मिल रहा। लेकिन ऐसा नहीं है। एम.एन.श्रीनिवास आधुनिकीकरण के संदर्भ में एक जगह विद्यालय और जातिगत बंधनों को एक साथ अपनी चर्चा में लाते हुए कहते हैं कि 'विद्यालय ही वह स्थल बनकर उभरेंगे, जहां अलग-अलग जातियों के लड़के, लड़कियां आपस में मिलेंगे और हमारे समाजों में जाति का बंधन धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगेगा'। इस शिथिलता की गति क्या होगी, इसका कोई अनुमान मेरे पास नहीं है।

मैं जिस विद्यालय में था, वहां लड़के और लड़कियां अलग-अलग समूहों में बैठते हैं। लड़कियां दरवाजे की तरफ और लड़के उस दीवार की तरफ। आधी छुट्टी में भी जो एकांत हो सकता था, वह सबकी निगरानी में बन ही नहीं पाता। इसके बावजूद मैंने देखा है, इसी कक्षा ग्यारह के एक लड़के को। वह अर्ध-अवकाश में एक लड़की के लिए मोटर साइकिल से आता है। दोनों में बात कितनी होती होगी, कह नहीं सकता। वह बस उसका रास्ता रोक कर खड़ा हो जाता है। एक दूसरा छात्र किसी अन्य विद्यालय की छात्रा से सुबह विद्यालय आते वक्त और दोपहर में घर वापस जाते वक्त मिलने के लिए कई दिनों तक पढ़ने नहीं आया। यह बात उसके एक मित्र ने मुझे बताई। बाद में उसने स्वयं इसकी पुष्टि की।

इन दोनों ही प्रकरणों में लड़का लड़की से बात करने के अवसर बनाने की इच्छा रखते हैं। दोनों ही छात्र पढ़ने के लिए विद्यालय नहीं आ रहे हैं। इसे एक स्तर पर 'छेड़छाड़' भी कहा जा सकता है। लेकिन हमें थोड़ा ध्यान से देखना चाहिए, यह दोनों लड़के जाने अनजाने एक 'जगह' या 'स्पेस' को बनाना चाहते होंगे, जहां वह बात भी कर सकें और मिल भी सकें। लेकिन यह कैसे होगा, इसकी समझ दोनों में ही कहीं नहीं दिखाई देती। जितना वह कर सकते हैं अपनी समझ से कर रहे हैं, भले आप उसे 'छेड़छाड़' मानते रहें। उससे बस होगा यह कि जो हो रहा है, वह हम समझ नहीं पाएंगे।

इस सिलसिले में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले थोड़ी देर के लिए आप मेरी मदद कीजिये। मेरी तरफ से कुछ पल के लिए इस बात पर विचार कीजिये कि यदि आपको बिना पैसा खर्च किए किसी स्त्री या पुरुष पर निगरानी रखनी है, तब आप यह कहां रख पाएंगे? गांव में या शहर में? इन दोनों की संरचना में एक ऐसा भेद है, जो इस निगरानी को एक सार्वजनिक जिम्मेदारी के कार्य में तब्दील कर देता है। गांव का सरल समाज इसके लिए एकदम मुफीद जगह जान पड़ता है। यह व्यवस्था अनौपचारिक रूप से वहां व्याप्त है। हर कोई इसके दायरे में है। मुख्य रूप से स्त्री ही क्यों, इस पर आप सवाल उठा सकते हैं। उनके पास इसका जवाब भी है। जहां जाति पितृ सत्तात्मक ढांचों को बनाए

रखने का माध्यम हो, वहां किसी स्त्री का किसी पुरुष से मिलना अपने आप में बहुत बड़ी व्याधि या संकट है। मैं आपसे पूछता हूं, ऐसी स्थिति में क्या विद्यालय वह 'जगह' हो सकते हैं? क्या आप इन विद्यालयों को इस रूप में देखना स्वीकार करेंगे?

अंत से पहले

जैसा कि मैंने ऊपर कहा, इन घटनाओं की और परतें हो सकती हैं। उन्हें विश्लेषित करने के लिए कई पैने औजारों का इस्तेमाल किया जा सकता है। आप यह भी कह सकते हैं, फौरी तौर पर इन्हीं से शुरुआत क्यों की गई? क्यों लड़का और लड़की के मिलने को प्रस्थान बिन्दु बनाया गया? मेरे पास इन प्रश्नों के कई उत्तर हैं। बस मेरा एक सवाल यह है कि शहर में जिस स्वच्छंदता के साथ लड़के और लड़कियां मिलते हैं, साथ बैठते हैं, साथ सफर करते हैं, उसे अर्जित करने के लिए उनका संघर्ष क्या है? घर से निकलने के बाद उनका यह संघर्ष अपनी न्यूनतम अवस्था में है। वह जिसे यहां इस परिवेश में स्वाभाविक मान रहे हैं, गांव में इसके लिए कितनी चुनौतियों का सामना रोज करना पड़ता है।

यह कोई तुलनात्मक अध्ययन नहीं है। न ही गांव के शहर बन जाने की किसी लालसा को प्रकट करना है। बस यह विचार करना चाहता हूं, इसमें शिक्षा की क्या भूमिका हो सकती है? शहरों में तो हम ऐसा होता कुछ देख नहीं रहे हैं। जो जितना शिक्षित है, वह उतने बड़े अंग्रेजी अखबार में सजातीय वर या वधू खोज रहा है। आर्थिक समृद्धि भी हर तरह से एक बेहतर समाज के निर्माण कर पाने में अक्षम साबित हुई है। विषमताएं इस कदर बढ़ रहीं हैं कि उससे नई तरह की असमानताएं उत्पन्न हो रही हैं। सोचता हूं, क्या भविष्य में लड़के और लड़कियों के बीच की कम होती दूरी गांव को किसी तरह पुनर्रचित कर सकती है? क्या शिक्षा गांव की संरचना में किसी तरह का परिवर्तन लाने में सक्षम है या वह भी उन्हीं मूल्यों और संस्थाओं के साथ समझौतों के बल पर खुद को बचाए रखने की जद्दोजहद कर रही है? अगर वह ऐसी है, तब वह किस तरह के मनुष्यों को भविष्य के लिए बनाएगी और किस तरह के समाज का निर्माण करेगी?

प्रश्न बहुत सारे हैं। कठोर, निर्मम और अनुत्तरित। ◆

लेखक परिचय : फिलहाल दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षा संस्थान (CIE) से 'ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता और शिक्षा की अंतर्क्रिया' विषय पर शोध कार्य कर रहे हैं।

संपर्क : shachinderarya@gmail.com

लेसन प्लान : कितने सार्थक?

कालू राम शर्मा

लेसन प्लान (पाठ योजना) स्कूली शिक्षा के पूर्व सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में एक आवश्यक तत्व के रूप में शामिल किया गया है। अनुभव बताते हैं कि लेसन प्लान को लेकर यों कोई समस्या नहीं आती, क्योंकि लेसन प्लान का एक तयशुदा ढांचा शिक्षा जगत में मौजूद है और उस ढांचे में जिस विषय के पाठ का कक्षा में अध्यापन करना होता है उसके व शिक्षण शास्त्र के तत्वों को फिट किया जाता है।

लेसन प्लान की जरूरत क्यों? इसको लेकर पूर्व सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम में परंपरागत नजरिया अपनाया जाता है जिसमें प्रभावी शिक्षण के लिए एक सुसंगत ढांचा तैयार करना इसका एक उद्देश्य होता है। इससे शिक्षक व्यवस्थित होता है, सिलेबस के संबंध में दिशा प्रदान करता है, पाठ पढ़ाते समय शिक्षक को अधिक विश्वास देता है। भविष्य की योजना तैयार करने में उपयोगी आधार प्रदान करता है। विभिन्न बच्चों के लिए शिक्षक को योजना बनाने में मदद करता है। एक प्रमाण है कि शिक्षक ने पढ़ाने के लिए उचित और पर्याप्त प्रयास किए हैं।

अगर इस सवाल को शिक्षा के प्रगतिशील नजरिए से टटोलें तो समझ में आता है कि शिक्षक बनने से पहले शिक्षार्थी को स्कूल, शिक्षा के लक्ष्य, मनोविज्ञान, शिक्षा का इतिहास, समुदाय आदि मसलों पर समझ बनानी होती है। और दरअसल, यही सब कुछ पाठ्यक्रम में शामिल होता है। पाठ्यक्रम का एक हिस्सा कक्षा शिक्षण को लेकर पाठ योजना को समर्पित होता है। सैद्धांतिक तौर पर देखें तो पाठ योजना के जरिए शिक्षार्थी पाठ्यक्रम के सैद्धांतिक पहलुओं का अध्ययन करते हैं उन्हें स्कूल में बच्चों के साथ कक्षा शिक्षण के दौरान आजमाना है। असल में सैद्धांतिक व व्यवहार के पहुलओं के बीच तालमेल बिठाना है। आखिर जिस मनोविज्ञान का शिक्षार्थियों ने अध्ययन किया उसकी प्रमुख बातों को कक्षा शिक्षण के दौरान समझना या कि जांचना है। इस लिहाज से लेसन प्लान पूर्व सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण का एक अहम तत्व हो सकता है। लेकिन इसमें जड़ता है। यह मात्र एक औपचारिकता बनकर रह गया है।

मैंने पूर्व सेवाकालीन शिक्षार्थियों के लेसन प्लान देखे हैं जिन्हें वे एक तयशुदा ढांचे में तैयार करके, कक्षा में क्रियांवित करते हैं। लेसन प्लान कैसे बनाया जाता है इस पर काफी कुछ कहा गया है। इसके तय चरण बताए जाते हैं मसलन - उद्देश्य, रूपरेखा, सामान्य सूचना, सामान्य उद्देश्य, विशिष्ट उद्देश्य, पूर्व ज्ञान, प्रस्तावना, प्रस्तुतीकरण, बोध प्रश्न, श्याम पट्ट पर कार्य, मूल्यांकन, गृह कार्य।

लेसन प्लान मूलतः किसी कक्षा की पाठ्यपुस्तक के पाठ की कक्षा शिक्षण की ही योजना है। जिसे मात्र पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु के शिक्षण के लिए तैयार किया जाता है। इसमें उस पाठ को छोटी-छोटी इकाइयों में तोड़ा जाता है और फिर समय के सापेक्ष कक्षा में करने के लिए पीरियडवार बांटा जाता है।

जाहिर है कि जो लेसन प्लान शिक्षार्थियों द्वारा तैयार किए जाते हैं वे एकाकीपन लिए व संकुचित होते हैं। जहां शिक्षार्थियों को समाज, स्कूल व बच्चों की पृष्ठभूमि के बारे में बहुत अधिक जानकारी नहीं होती। बस तयशुदा बिंदुओं को आधार बनाकर शिक्षार्थी कक्षा में शिक्षण कार्य संपन्न करने की कोशिश करता है। अगर कक्षा शिक्षण उन बिन्दुओं के अनुरूप संपन्न हो जाए तो लेसन प्लान तो सफल मान लिया जाता है मगर बच्चों ने असल में क्या सीखा व शिक्षार्थी ने क्या सबक सीखे, इसका आकलन करने की कोशिश नहीं होती।

लेसन प्लान बनाने में इस मसले को शामिल नहीं किया जाता कि शिक्षार्थी यह पता कर सके कि जिस इलाके में स्कूल है वहां के बच्चों की भाषा क्या है। एक शिक्षक शिक्षार्थी को उस क्षेत्र की सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक समझ होना आवश्यक है जिस क्षेत्र के स्कूल में वह शिक्षण करने जा रहा है। ये वे पहलू हैं जो शिक्षण के दौरान विमर्श का हिस्सा बनने चाहिए। तभी तो शिक्षा को एक ऐसे उपक्रम के रूप में देखा संभव होगा जिसके जरिए समाज की मान्यताओं व परंपराओं को विमर्श का हिस्सा बनाया जा सकता है।

बच्चों को सीखने के अधिक से अधिक अवसर दिए जाएं। बच्चे स्वयं ज्ञान का निर्माण करें, उन्हें अधिक से अधिक सवाल पूछने व खोजने, सोचने, समस्याओं के हल करने के अवसर मिलें, और अंततः हम विषयों के शिक्षण के जरिए संवैधानिक मूल्यों को शामिल करते हुए उनमें उनको पोषित करें। दरअसल ये अपेक्षित बातें हाशिये पर चली जाती हैं और शिक्षण कार्य एक कर्मकांड बनकर रह जाता है।

इस प्रक्रिया में शिक्षार्थी की काफी ऊर्जा खर्च होती है। यह भी देखने में आता है कि यह प्रक्रिया उबाऊ और थकाने वाली होती है। शिक्षार्थियों के लिए लेसन प्लान उनके पाठ्यक्रम का आधारभूत व अविभाज्य हिस्सा होता है लेकिन इसके ढांचे व कार्यप्रणाली पर सवाल उठाने या सकारात्मक फेरबदल की गुंजाइश कम ही होती है।

लेसन प्लान में अधिक जोर इस पर होता है कि जो कुछ भी फॉर्मेट में चरणबद्ध ढंग से लिखा गया है उसे उसी क्रम में पूरा किया जाना है और वह अपेक्षित व तयशुदा है। वही प्रश्न पूछे जाने हैं, वही प्रयोग, गतिविधि, टीएलएम (टीचिंग लर्निंग मटेरियल) पाठ्य/टैक्स्ट कक्षा में शामिल किए जाएंगे जिन्हें शिक्षार्थी ने अपने प्लान में शामिल किया है। कक्षा की तात्कालिक जरूरतों के आधार पर उनमें बदलाव करने की संभावनाएं नगण्य कही जा सकती है।

बुनियादी दिक्कत इस बात की है कि बच्चों को निष्क्रिय, महज सूचना प्राप्त करने वाले के रूप में देखा जाता है। बच्चों को सोचने-विचारने, तर्क करने वाले के रूप में नहीं देखा जाता बल्कि उन्हें इस मामले में खाली घड़े (टेबुला रासा) के रूप में देखा जाता है।

जब मैं लेसन प्लान पर सामग्री पढ़ रहा था तो मुझे एक उपमा मिली। शिक्षण की उपमा भवन निर्माण से की गई है। जैसे कि ''शिक्षक के लिए पाठ योजना निर्माण उतना ही आवश्यक है जितना एक अभियंता को भवन निर्माण के लिए मानचित्र या ब्लू प्रिंट आवश्यक होता है।'' दरअसल, इस उपमा में बुनियादी दिक्कत है। भवन का निर्माण एक अलग मामला है और बच्चों को शिक्षित करना निहायत ही फर्क। भवन बनाने की प्रक्रिया में एक पक्ष जो कि भवन बनाने वाला इंजिनियर, कारीगर एक सक्रिय पक्ष है वहीं भवन और उसमें इस्तेमाल की जाने वाली चीज़ें एक निष्क्रिय पक्ष। जहां नींव बनाना, ईंटों की जुड़ाई, पलस्तर, दरवाजे, रोशनदान, खिड़कियां, टाइल्स वगैरह की फिटिंग की जानी होती है। यहां किसी जीवंत संवाद की जरूरत नहीं पड़ती। हां, इन चीज़ों की तासीर के बारे में बस एक कारीगर को पता होना चाहिए। उसे नाप-जोख का पता होना चाहिए। वहीं बच्चों का सीखना एक जीवंत प्रक्रिया है जहां अनुभवों, संदर्भ व समझ, विषय की तासीर की समझ, सीखने-सिखाने की आधारभूत समझ अपरिहार्य है।

लेसन प्लान की एक मिसाल यहां देखी जा सकती है- कक्षा में बच्चे कतार में बैठे हुए हैं। शिक्षक शिक्षार्थी तैयारी के साथ आई है। वह टीएलएम के रूप में पोस्टर्स बनाकर लाई है। उसने अभी बैग को खोला नहीं है। ऐसा इसलिए कि वह संस्पेंस बरकरार रखना चाहती है। वह विषय के मुद्दे को कुछ सवालों के जरिए जन्म देना चाहती है। उसने सलीके से बोर्ड को साफ किया।

यद्यपि लेसन प्लान में बच्चों से शिक्षार्थी द्वारा सवाल पूछने की गुंजाइश तो रखी जाती है मगर वे सवाल कृत्रिम होते हैं। ये सवाल कक्षा में लेसन को आगे बढ़ाने के लिए व तयशुदा बिंदुओं को महज क्रियांवित करने के लिए होते हैं न कि बच्चों के सीखने में मदद करने के लिए।

शिक्षक शिक्षार्थी ने सवाल पूछने शुरू किए। ''आपने घर से स्कूल आने के पहले क्या-क्या किया?'' बच्चों के अलग-अलग जवाब थे। किसी ने कहा कि वह बकरी को चराने ले गया। किसी ने कहा चाय पी, पानी पिया। किसी ने कहा कि खेत पर गया था सुबह से। एक ने कहा कि अपनी छोटी बहन के साथ खेला। लड़कियों में से एक बोली कि झाड़ू लगाई। शिक्षार्थी अभी उनके जवाबों से संतुष्ट नहीं थी। वह पूछने लगी। और क्या किया? बच्चों को एहसास हुआ कि ये सब जवाब गलत हैं। बच्चों को एहसास हुआ कि शिक्षिका चाहती है वह जवाब वे नहीं दे पा रहे हैं। शिक्षार्थी ठिठकी हुई थी। आखिर उनकी मर्जी का जवाब नहीं मिला था। एक ने कहा- रोटी (आमतौर पर भोजन करने को रोटी खाना कहा जाता है) खाई। शिक्षार्थी ने फिर पूछा। रोटी किससे बनती है? बच्चों का जवाब था - ''आटे से''। आटा किससे बनता है? बच्चों ने कहा- ''धान से'' (इस इलाके में अनाज को धान कहा जाता है)।

शिक्षार्थी थोड़ी संतुष्ट लग रही थी कि बातचीत कुछ रास्ते पर आ रही है। उसने अभी भी पूछना जारी रखा। धान कहां से आता है? बच्चों ने कहा- ''खेत से''? धान उगाने के लिए क्या किया जाता है? बच्चों ने कहा- ''धान बोया जाता है''। आखिर शिक्षार्थी को ही बताना पड़ा कि धान बीज है और आज हम बीज का अध्ययन करेंगे।

इस पूरे मामले में शिक्षार्थी द्वारा पूछे गए सभी सवालों के जवाब उन्हें रास नहीं आ रहे थे क्योंकि वे जिस पाठ्यवस्तु को पढ़ाना चाहती हैं उसका शीर्षक ''बीज'' बताने की अपेक्षा वह अपने लेसन प्लान के सवालों में कर चुकी थीं। इस प्रकार अपेक्षित जवाब पाने के चक्कर में ''सवाल पूछना'' एक कर्मकांड ही बनकर रह जाता है।

इसके तुरंत बाद ही टीएलएम के रूप में बीजों से संबंधित चार्ट्स का इस्तेमाल किया गया। जहां बीजों के आकार-प्रकार पर शिक्षार्थी द्वारा ही ज्ञान परोसा गया। इनसे संबंधित प्रश्न शिक्षार्थी द्वारा पूछे गए। बीजों के प्रकीर्णन पर चर्चा की गई। और आखरी में मूल्यांकन के अंतर्गत कुछ प्रश्न पूछे गए और लेसन प्लान की रस्म अदायगी पूरी हो गई।

जाहिर है कि प्रश्न भी खुद ने ही बनाए और प्रश्नों के जवाब भी आपने ही सोचे हैं कि बच्चे क्या जवाब देंगे। अगर अपेक्षित जवाब नहीं मिला तो फिर उसी जवाब को पाने के लिए अगला सवाल! और फिर उस जवाब के बाद अगला सवाल क्या हो सकता है, यह भी तय होता है। बच्चों को सोचने विचारने के अवसर नदारद होते हैं। शिक्षार्थी का पूरा फोकस इस पर होता है कि हर हाल में लेसन प्लान पूरा हो जाए।

यों लेसन प्लान की कमजोरियों को ध्यान में रखते हुए स्कूली शिक्षा में कार्य करने वाले लोग 'टीचिंग प्लान' शब्द का इस्तेमाल करते हैं। हालांकि नाम में क्या रखा है मगर यह सच है कि लेसन प्लान एक रस्म अदायगी जैसी चीज़ बनकर रह गई है। शिक्षक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे युवक-युवतियां स्कूली शिक्षा को लेकर एक गहरी समझ बनाएं, शिक्षा व समाज के सैद्धांतिक पहलुओं को आत्मसात करें इसके लिए जरूरी है कि वे अपने कैरियर का शुरुआती निर्धारित वक्त स्कूलों में लगाएं। इस दौरान स्कूली शिक्षा से संबंधित जरूरी दस्तावेज जिनमें शामिल है- शिक्षा की नीतियां, शिक्षण विधियां, बाल मनोविज्ञान, शिक्षा का दर्शन, शिक्षा का इतिहास आदि का स्वाध्याय करें। साथ ही वे संस्थान द्वारा स्कूली शिक्षा के संदर्भ में किए जाने वाले प्रत्येक कार्य में सक्रिय भागीदारी भी करें। स्कूलों में जाकर वे मात्र अवलोकनकर्ता ही न बनें बल्कि यह समझें कि आखिर एक स्कूल कैसे संचालित होता है। वहां समाज-स्कूल, शिक्षक-शिक्षक, शिक्षक-बच्चों के बीच किस प्रकार के रिश्ते हैं। बच्चों की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि क्या है? उनकी दिनचर्या क्या है? सरकारी स्कूलों के बच्चे कमजोर, वंचित, हाशियाकृत समुदाय के होते हैं। उनको लेकर समाज में प्रचलित मान्यताओं को टटोला जाए। साथ ही इसमें उन बच्चों का शिक्षण करना भी शामिल हो। बच्चों के शिक्षण के लिए टिचिंग प्लान का प्रावधान हो जहां वे वाकई में कक्षा शिक्षण की जटिलता को समझें और जो तात्कालिक मसले कक्षाओं में जन्म लेते हैं उनके निराकरण के बारे में विमर्श करें।

उल्लेखनीय है कि इन संस्थानों में जो युवक-युवितयां अपना कैरियर देखते हैं वे अपने विषय में उच्च शिक्षा जिसमें स्नातकोत्तर, पीएचडी वगैरह की डिग्री शामिल है, लेकर आते हैं। अब सवाल यह है कि आखिर जो ज्ञान उन्होंने अपने अध्ययन के दौरान अर्जित किया उसे बच्चों के संज्ञानात्मक स्तर पर जाकर कैसे कक्षा शिक्षण में शामिल किया जाए ताकि उसे वे आत्मसात कर सकें। उन विषयों से संबंधित प्रचलित मान्यताओं व विश्वासों को कैसे बच्चों के बीच शिक्षण के दौरान विमर्श का हिस्सा बनाया जाए। उस विषय के शिक्षण के लिए कौनसी विधि अधिक कारगर हो सकती है। इस पूरी प्रक्रिया में अपने द्वारा बनाए गए प्लान को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने से अधिक यह समझना होता है कि अगर उस अवधारणा पर समझ न बन सकी तो उसकी वजहें क्या हैं? कौनसी गतिविधि या टीएलएम क्यों कारगर हुई या नहीं हो सकी। बेशक इन वजहों को बच्चों में नहीं बल्कि अपने शिक्षण के तरीकों में तलाशने की जरूरत होती है?

लेसन प्लान को पाठ्यपुस्तक की ही तरह एक आदर्श या कि पवित्र चीज के रूप में देखने की परंपरा रही है। स्कूलों में शिक्षक व बच्चों को यही एहसास कराया जाता है कि पाठ्यपुस्तक से दाएं-बाएं होना, उसके परे जाना मानो कोई नियम का उल्लंघन हो। वैसे ही लेसन प्लान से परे जाना या उसमें तब्दीली करना अमान्य-सा होता है।

हालांकि लेसन प्लान व टीचिंग प्लान दोनों को कई बार परस्पर समानार्थी रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है। लेसन प्लान या टीचिंग प्लान को पवित्र या आदर्श मानने की भूल करने का अर्थ होगा कि हम उस यथास्थितिवाद को पोषित कर रहे हैं। और इतना ढीला भी नहीं छोड़ सकते कि ''सब कुछ चलता है''। हमें कुछ चीज़ों को अच्छे से पकड़कर रखना ही होगा जैसे कि विषय की तासीर की बेहतर समझ।

अगर आप बच्चों से कोई सवाल पूछते हैं और अगर वे गलत जवाब दे देते हैं तो उसे स्वीकार करने की जगह प्लान में होनी ही चाहिए। बल्कि इससे भी एक कदम और आगे यह पता लगाने का होना चाहिए कि आखिर बच्चे ने गलत जवाब क्यों दिया? गलतियां सीखने की सीढ़ियां होती है, उन गलतियों का विश्लेषण शिक्षार्थी द्वारा किया जाना चाहिए कि गलतियों का पैटर्न क्या है ताकि उनके आधार पर अगला प्लान तैयार किया जा सके।

असल में एक टीचिंग प्लान में वह सब शुमार होना चाहिए जिसे शिक्षा के लक्ष्यों के रूप में अर्जित करना चाहते हैं। जहां हम बच्चों को सीखने वाले और एक सक्षम व्यक्ति के रूप में देख रहे हों। साथ ही बने बनाए सवालों की झड़ी नहीं लगाएं। जहां बच्चों को ज्ञान के वाहक के रूप में नहीं बल्कि ज्ञान के निर्माता के रूप में हम देख रहे हों। ◆

लेखक परिचय : पिछले पच्चीस सालों से विज्ञान शिक्षण, पर्यावरण अध्ययन, शिक्षा और समाज के विषयों पर निरंतर लेखन। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में लगभग 18 वर्ष तक संलग्न रहे। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन (मध्यप्रदेश) में कार्यरत हैं।

संपर्क : 8226000428; **ईमेल :** kr.sharma@azimpremjifoundation.org

पढ़ना, जरा सोचना

चन्दन यादव

इंसान के एक बच्चे के समक्ष सीखने के लिए तमाम चीजें होती हैं। इनमें से कुछ साइकिल चलाना, तैरना, पेड़ पर चढ़ना, गाना, किसी वाद्य यंत्र को बजाने में महारत हासिल करना आदि हैं। इनमें सबसे न्यूनतम और बेहद जरूरी है, पढ़ना सीखना। बच्चों के चार साल का होते-न-होते उसके सामने सबसे बड़ा लक्ष्य यही होता है। इसी के लिए तमाम प्राथमिक शालाएं, हजारों स्वेयंसेवी संस्थाएं, ढेर सारे प्रकाशक और पढ़ना सिखाने के नित नूतन नवाचार मौजूद हैं। बावजूद इसके हमारी शिक्षा की मुख्य समस्या, आज भी बच्चों का पढ़ना नहीं सीख पाना या देरी से पढ़ना सीखना है।

थोड़ा और गहराई से सोचें तो जिन्हें हम इस रूप में जानते हैं कि वे पढ़ना जानते हैं, वे भी कहां कायदे से पढ़ना सीखे होते हैं।

कृष्ण कुमार की किताब पढ़ना, जरा सोचना हमें पढ़ने के इन्ही विविध पहलुओं की पड़ताल में ले जाती है। बल्कि ज्यादा सही ये कहना होगा कि उस कुचक्र से साक्षात कराती है जिसमें पढ़ना, पढ़कर समझना और पढ़ने की आदत का विकास फंसकर रह गए हैं। इसलिए यह किताब सिर्फ बच्चों के पढ़ना सीखने के बारे में नहीं है। बल्कि हमारे समाज में पढ़ने की स्थिति के बारे में है। इस दायरे में हम सब आते हैं।

पढ़ना, जरा सोचना, तक्षशिला एजुकेशन सोसायटी के बाल साहित्य और कला केन्द्र इकतारा से प्रकाशित हुई है। इस किताब की भूमिका में कृष्ण कुमार कहते हैं, ''जो पढ़ नहीं सकते, उन्हें 'अनपढ़' कहकर हम ऐसे लोगों के लिए कोई शब्द नहीं छोड़ते जो पढ़ सकते हैं मगर पढ़ते नहीं, उनसे भी बड़ी संख्या में वे लोग हैं जो पढ़ते हैं, पर समझते नहीं।''

इस किताब की यात्रा हमें उन पहलुओं की पड़ताल में ले जाती है जो पढ़कर नहीं समझ रहे और पढ़ना जान रहे नहीं पढ़ने वाले समाज के बनने के केंद्र में हैं।

पहले अध्याय पढ़ना, बचपन और साहित्य में वे कहते हैं कि हम पढ़ते हुए लिखे का अर्थ तलाशते और तराशते हुए चलते हैं। हम जो अर्थ तलाशते हैं वह हमारा ही दिया हुआ होता है। कई बार साहित्य पढ़ते हुए हमें लगता है कि कोई बात लेखक ने हमारे लिए ही लिखी है। ऐसी बात पढ़कर हमें खास तरह का सुख या संतोष मिलता है। यदि कोई लेखक हमें ऐसा सुख देता है तो हम उसकी रचनाएं ढूंढ-ढूंढ कर पढ़ते हैं। यदि बच्चों को भी ऐसी रचनाएं मिलें तो इस खास सुख की चाह उनमें बचपन से ही पैदा हो जाएगी। जो लेखक बच्चों को सिखाने के लिए लिखते हैं वे ऐसी कृति नहीं रच पाते जिसे बच्चे बार-बार पढ़ें।

जो बात उन्होंने इस लेख में नहीं कही, उसे भी इस विवरण से समझा जा सकता है। स्कूल में चलने वाले पढ़ने के क्रियाकलाप समझें। पाठयपुस्तकों को गहराई से देखें तो हमें ये समझते देर नहीं लगेगी कि हम पढ़ने का उद्देश्य समझने में चूक कर रहे हैं।

अगले अध्याय में वे इसी के विस्तार में जाते हुए बताते हैं कि पढ़ना और पढ़ाई दो अलग-अलग बात हैं। पढ़ाई का मतलब परीक्षा की तैयारी के लिए पढ़ना है। तैयारी से आशय बिना सोच-विचार में समय बर्बाद किए पूछे गए प्रश्नों का उत्तर लिख सकने की सामर्थ्य विकसित करना है। ऐसी सामर्थ्य बोल-बोल कर याद करने और बार-बार लिखने का अभ्यास करने से आती है। इस खुलासे से यह स्पष्ट हो जाता है कि पढ़ाई में पढ़ना महज एक प्रारंभिक क्रिया है। असली काम इसके बाद चालू होता है, जिसे 'मेहनत करना' कहते हैं। यह बात पढ़ना और पढ़ाई को साफ तौर से अलग कर देती है।

पढ़ाई के लिए कोई प्रेमचन्द की कहानी या उपन्यास पढ़ेगा तो इसकी बहुत कम संभावना है कि वो उनकी और रचनाएं पढ़ने के लिए प्रेरित हो सके। इसलिए हमें कभी ऐसे कथन भी सुनने में आ सकते हैं कि ''मेरा बेटा पढ़ाई में अच्छा है पर पढ़ता नहीं है।"

कृष्ण कुमार पढ़े लिखे लोगों में पढ़ने की रुचि और आदत के अभाव की जड़ें वाचन की परम्परा और पाठ की भूमिका में भी देखते हैं। वाचन यानि बोलकर पढ़ना या किसी को सुनाने के लिए पढ़ना कक्षा संचालन की एक मजबूत परम्परा बन चुका है। वाचन का संबंध पाठ से है, दोनों ही शब्द याद दिलाते हैं कि पहले के समय में पढ़ना उतना आम नहीं था जितना आज माना जाने लगा है। पाठ्यपुस्तक पाठों का संग्रह है। इसमें जो पाठ हैं उनके अर्थ पूर्व निश्चित हैं। पाठक उसी अर्थ को जानकर सफल हो सकता है। इस तरह पाठ्यपुस्तक में खुद अर्थ ग्रहण करने की गुंजाइश का अभाव पढ़ने की मीमांसा को काफी सीमित कर देता है। पाठ की परिपाटी पाठक को अपनी निजी कल्पना से कोई बिम्ब या अर्थ ग्रहण करने की छूट नहीं देती। इसलिए वाचन पर जोर दिया जाता है।

वाचन की परिपाटी हमें एक ऐसे अतीत की याद दिलाती है जब पढ़ने वाले बहुत कम थे और उनकी हैसियत दूसरे लोगों से अधिक थी। खेद है कि यही परिपाटी अब तक चली आती है।

पढ़ने के माहौल पर बात करते हुए कृष्ण कुमार आशंका जाहिर करते हैं कि जिस स्कूल में पढ़ाई जोरों पर होती है, वहां पढ़ने का माहौल न के बराबर होता होगा। ऐसा वे पढ़ाई में लगने वाले अभ्यास और मेहनत का उल्लेख करते हुए कहते हैं। वे सुझाते हैं कि अच्छा बाल साहित्य बच्चों के जीवन में पढ़ाई के वर्चस्व को चुनौती दे सकता है। ऐसा माहौल 'पढ़ने का माहौल' होगा जिसे कोई स्कूल खुद भी बना सकता है। पर इसके लिए उसे उस माहौल से जूझना होगा जो समूची शिक्षा व्यवस्था के साथ-साथ समाज में भी फैला हुआ है।

किताब में कृष्ण कुमार ने अर्थ कहां से आता है का बहुत सरल और सटीक विवेचन किया है। किसी कहानी को पढ़ते हुए जब हम स्वयं उसमें जा पहुंचते हैं, शामिल हो जाते हैं तो उसका अर्थ हम तक आता है। ये कहानी को अर्थ देने में हमारी सक्रिय भूमिका के कारण होता है। पढ़ने में इस तरह के जुड़ाव को बनाने के लिए वे अच्छे बाल साहित्य की भूमिका को प्रमुख मानते हैं। किताब में इस पर एक अलग अध्याय है कि हम अच्छा बाल साहित्य किसे कहें।

यह किताब हमें डिजिटल माध्यम से पढ़ने के बारे में भी सचेत करती है। हालांकि डिजिटल माध्यम से पढ़ने और किताब से पढ़ने में अन्तर पर बहुत कम अनुसंधान हुए हैं। इस किताब में कृष्ण कुमार अमरीकी संज्ञानविद मेरिएन वुल्फत के हवाले से बताते हैं कि डिजिटल माध्यमों के आदी विद्यालयों में समीक्षाई सोच को संभव बनाने वाली गहन रूप से पढ़ने की आदत को विकसित करना मुश्किल पाया गया है। यही मुश्किल कहानी के पात्र से तादाम्य बनाने या उसके अनुभव से जुड़ने की क्षमता के बारे में भी निकलकर आई है। मेरियन वुल्फ सूचना और जानकारी के लिए डिजिटल माध्यमों पर पढ़ने तथा साहित्यिक अनुभव और संज्ञानात्मक विकास के लिए किताबों जैसे पारम्परिक माध्यम की सिफारिश करते हैं।

इसे पढ़ते हुए मुझे वाट्सएप और ट्विटर जैसे मंच याद आए। यहां पढ़ने में आने वाली बातों में झूठ और फेक न्यूज का एक बड़ा हिस्सा है। ऐसा लगता है कि लोग किसी भी बात के संदर्भ, अन्य पहलुओं और उसकी गहराई में जाए बिना उसे प्रसारित करने में जुट जाते हैं। इससे देश का सामाजिक राजनैतिक माहौल लगातार खराब होता गया है। किताब से पढ़ने और इन मंचों पर पढ़ने के इस अन्तर पर भी अध्ययन होने चाहिए।

किताब में चन्द्र मोहन कुलकर्णी के बनाए माटी के शिल्प इस अहसास को और घनीभूत बनाते हैं कि यह धीरे-धीरे और सोचते हुए पढ़ने की किताब है। फोंट बहुत सादे और सुगम हैं। दो पंक्तियों के बीच रखी गई दूरी इतनी पर्याप्त है कि किसी भी पंक्ति का छूटना या पढ़ते-पढ़ते नजरों का ऊपर या नीचे चले जाना लगभग नामुमकिन है।

यह किताब पढ़ने के बारे में सोचने पर है। पर पढ़ने के विविध पहलुओं को एकमुश्त हमारे सामने रखने के कारण इसका प्रभाव इससे आगे भी जाता है। हम इनको आपस में जोड़कर देख सकते हैं। इनके कारण और प्रभाव समझ सकते हैं। और अगर शिक्षा और बच्चों से सीधे जुड़े हैं तो पढ़ने की पहल के लिए रास्ते भी सोच सकते हैं। ◆

लेखक परिचय : बच्चों के लिए कहानियां लिखते हैं। इस कड़ी में कुछ किताबें प्रकाशित हुई हैं। साइकिल और प्लूटो पत्रिकाओं के नियमित लेखक हैं। वर्तमान में इकतारा साहित्य एवं कला केन्द्र भोपाल के साथ काम कर रहे हैं।

संपर्क : 9425608869; chandansamvad@gmail.com

पुस्तक : पढ़ना, ज़रा सोचना
लेखक : कृष्ण कुमार
प्रकाशक : जुगनू प्रकाशन, तक्षशिला एजूकेशनल सोसाइटी, नई दिल्ली की इकाई
पृष्ठ : 68 **मूल्य** : 200 रुपये (पेपर बैक)

शिक्षा विमर्श

8" × 11" साइज पेजों के लिए विज्ञापन दरें

पत्रिका का पृष्ठ	पूरे पृष्ठ के लिए	आधे पृष्ठ के लिए	रंग संयोजन
बैक कवर	30,000 रुपये	20,000 रुपये	रंगीन (फोर कलर)
कवर पृष्ठ 2	25,000 रुपये	उपलब्ध नहीं	रंगीन (फोर कलर)
कवर पृष्ठ 3	20,000 रुपये	12,500 रुपये	रंगीन (फोर कलर)
अंदर के पृष्ठ	10,000 रुपये	6,000 रुपये	ब्लैक एण्ड व्हाईट

शिक्षक-प्रशिक्षक की भूमिका में अवसर

Azim Premji Foundation

अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन विभिन्न राज्यों में अपने जिला संस्थानों में कार्य करने हेतु शिक्षक प्रशिक्षक पद के लिए आवेदन आमंत्रित कर रहा है।

शिक्षक प्रशिक्षक की भूमिका: सरकारी स्कूलों की प्राथमिक एवं उच्च प्राथमिक कक्षाओं में अध्यापन कर रहे शिक्षकों का सतत् क्षमता संवर्धन।

आवश्यक योग्यता: स्नातक / स्नातकोत्तर

अनुभव: किसी प्राथमिक, उच्च प्राथमिक, उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, महाविद्यालय या अन्य शिक्षण संस्थानों में कम से कम दो वर्ष के शिक्षण कार्य का अनुभव अनिवार्य।

नोट - पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त लोगों के लिए अनुभव आवश्यक नहीं है।

शिक्षा से जुड़ी गैर सरकारी संस्थाओं में कार्यानुभव रखने वाले व्यक्ति भी आवेदन कर सकते हैं। कम से कम दो वर्ष का फील्ड में कार्य करने का अनुभव आवश्यक।

चयन प्रक्रिया: लिखित परीक्षा एवं साक्षात्कार

परीक्षा तिथि: 26 मई, 23 जून और 21 जुलाई

इच्छुक अभ्यर्थी निम्न वेबलिंक पर अपना पंजीकरण (ऑनलाइन) कर सकते हैं।

https://bit.ly/2Mx2kwb

अधिक जानकारी के लिए https://azimpremjifoundation.org/career-list एवं टोल फ्री नंबर-18002740101 (सोमवार-शुक्रवार, 9 A.M. - 6 P.M.) पर संपर्क कर सकते हैं।

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित